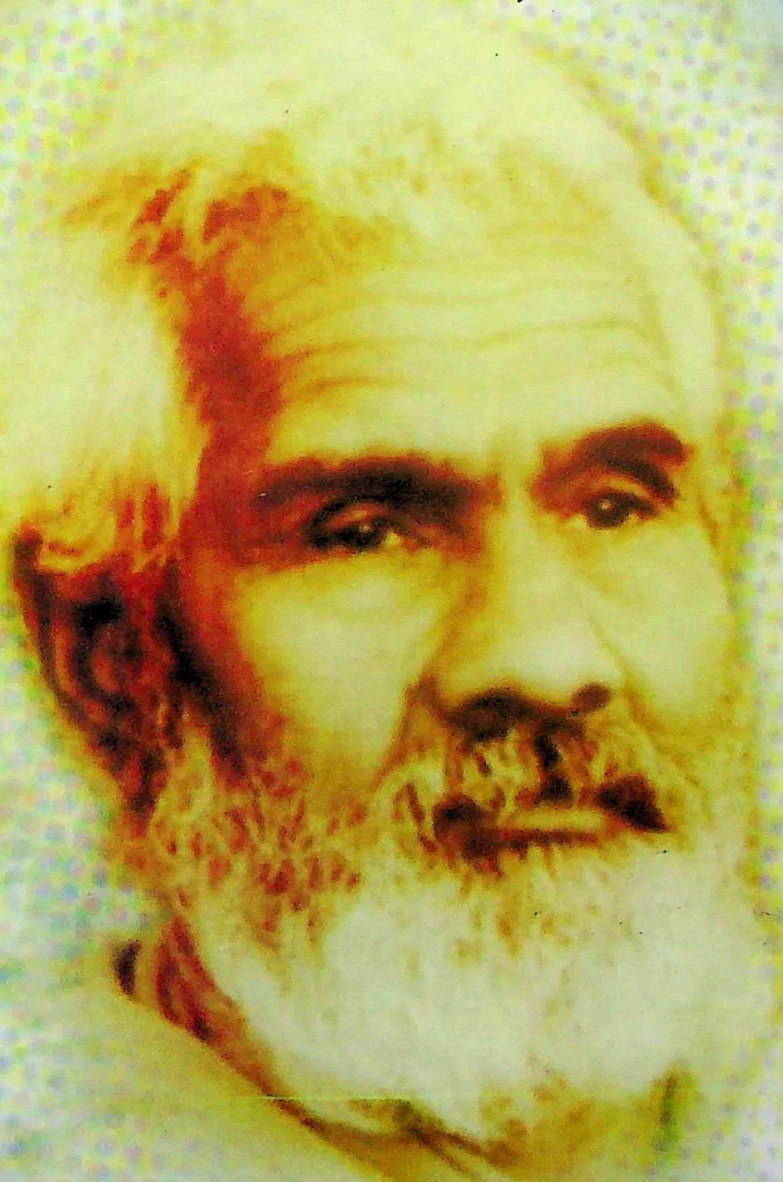
हृदय मंथन

(भाग - १)



शिवोम् तीर्थ

हृदय मंथन

भाग - १

शिवोम् तीर्थ

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
९२-९६ नवालीगाँव
पोस्ट दहिसर, जिला ठाणे
महाराष्ट्र (भारत)

पुस्तक निम्न स्थानों से प्राप्त की जा सकती है -

* **नारायण कुटी संन्यास आश्रम**
  देवास (म.प्र.)

* **योगश्रीपीठ आश्रम**
  शिवानंदनगर, मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ.प्र.)

* **देवात्म शक्ति सोसायटी**
  ९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया-मुंब्रा) ४०० ६१२
  पनवेल मार्ग, जि. ठाणे (महाराष्ट्र) दूरभाष मो.नं. ८४५४८७०९९८
  ९९२०३३२८१३

* **स्वामी शिवोम्तीर्थ आश्रम**
  मुकर्जीनगर, रायसेन (म.प्र.)

* **स्वामी शिवोम्तीर्थ कुण्डलिनी योग सेन्टर**
  दुर्गा मंदिर, जिलाधीश परिसर, छिंदवाड़ा (म.प्र.)

* **स्वामी विष्णुतीर्थ साधना सेवा न्यास**
  ओल्ड पलासिया, जोबट कोठी, इन्दौर

* **स्वामी विष्णुतीर्थ ज्ञान साधन केन्द्र**
  खेड़ी-गुज्जर रोड, गन्नौर (जिला सोनीपत) हरियाणा

* **प्रथम संस्करण**, ३००० प्रतियाँ, गुरु पूर्णिमा, सन् १९९९
* **द्वितीय संस्करण**, २१०० प्रतियाँ, दिसम्बर, १९९९
* **तृतीय संस्करण**, ३००० प्रतियाँ, अक्टूबर, २००१
* **चतुर्थ संस्करण**, २१०० प्रतियाँ, जनवरी, २०११
* पंचम संस्करण, ३००० प्रतियां, अक्टूबर २०२०

* **मूल्य : १०० रु. मात्र**

* टाइप-सेटिंग
  नारोलिया ग्राफिक्स
  ९०, कारसदेवनगर, इन्दौर

* मुद्रक :
  सन्मान एण्ड कंपनी
  ११३, शिवशक्ति इंडस्ट्रीयल एस्टेट,
  मरोल नाका, मुंबई - ४०० ०५९.

समर्पण

उन भावुक, साधन-प्रिय, कर्त्तव्यनिष्ठ

साधकों को

जो अपने-अपने श्री गुरु महाराज के प्रति

समर्पित हैं ।

- शिवोम्

पंचम संस्करण की भूमिका

हृदय-मंथन भाग एक २०२०, अक्टूबर महिने का दशहरा के दिन प्रकाशित किया जा रहा है । हृदय-मंथन गुरूदेव परम पुज्य स्वामी शिवोम् तीर्थजी महाराज का रचित अलौकिक ग्रंथ है। राजस्थान के एक व्यक्ति का फोन आया । उन्होंने कहाँ, " हमने अध्यात्म की बहुत पुस्तकें पढी मगर हृदय-मंथन जैसी पुस्तक पढने में नहीं आई।"

गोवा से एक फोन आया। उन्होंने कहाँ, "हृदय-मंथन पढकर हमको पता लगा कि वास्तव में साधक बनना कितना कठिन काम है।" इस तरह अनेक लोगोंका फोन आता है जिन्होंने हृदय-मंथन की बहुत सराहना कि है। गुरूदेव स्वामी शिवोम् तिर्थजी महाराज ने हृदय-मंथन लिखकर जगत पर महान उपकार किया है । गुरूदेव के चरण कमलो में कोटी कोटी प्रणाम।

– चेतन विलास तीर्थ

भूमिका

मैं नारायण कुटी देवास में सितम्बर १९५९ में आया। गुरूदेव ब्रह्मलीन स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज उस समय नेपाल गए हुए थे। वहाँ से नवम्बर के अन्त में लौटे। सन् १९६१ जनवरी में उन्होंने मुझे ब्रह्मचर्य में दीक्षित किया। इस प्रकार सन् १९६० को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है। ४० वर्ष पूर्व की स्मृतियाँ भी काफी धुँधली हो जाती हैं, इसलिए जो कुछ भी हृदय-पटल पर उभर पाया है, यहाँ संकलित किया गया है। महाराजश्री वीतराग सिद्ध महापुरुष थे। उनके द्वारा उच्चरित एक-एक शब्द भगवती अम्बा की क्रिया रूप होता था। वह मन-बुद्धि से नहीं, हृदय से बोलते थे। वाणी जनकल्याण की भावना से ओत-प्रोत होती थी।

चालीस वर्ष के लम्बे अन्तराल के पश्चात् उनके शब्दों को वैसे का वैसा याद रख पाना संभव नहीं। कुछ शब्द याद रह गए हैं, बाकी उनके भावों को शब्दों में ढालने का यथासंभव प्रयास किया है। महाराजश्री जब बोलते थे तो ऐसा प्रतीत होता था कि शब्द उनके हृदय में प्रस्फुटित होकर, वाणी के द्वारा प्रकट हो रहे हैं। चालीस वर्ष के बाद हृदय से निकली वाणी को लेखनीबद्ध करना सरल कार्य नहीं। यह महाराजश्री की ही कृपा है जो कि मैं ऐसा प्रयास कर पाया।

पुस्तक में महाराजश्री के उपदेश, हैं तो मेरा हृदय-मंथन। महाराजश्री की वाणी श्रोता को हृदय-मंथन के लिए विवश कर देती थी। मुझे भी, महाराजश्री की वाणी सुनकर अपने मन में झाँकने तथा दोषों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उनकी वाणी में जहाँ स्पष्टवादिता थी, वहीं जनकल्याण की भावना भी थी, इसीलिए उनका एक-एक शब्द हृदय में उतरता जाता था। उनके प्रवचन जो सन् १९६० में हुए, का लाभ उठाने का मुझे बहुत कम अवसर मिल सका। सर्वप्रथम तो सत्संग में, मैं उपस्थित ही नहीं हो पाता था, यदि गया भी, तो आश्रम सेवा का इतना बोझ सिर पर साथ ले जाता था कि मन प्रवचन में एकाग्र ही नहीं हो पाता था, किन्तु प्रातः कालीन भ्रमण के समय के सत्संग का, मैंने भरपूर आनन्द लिया। उस समय महाराजश्री के साथ मैं अकेला ही होता था तथा उस समय महाराजश्री भी अधिक स्वस्थ मन होते थे। इसलिए सत्संग खूब जमता था। पुस्तक में महाराजश्री द्वारा प्रातः काल कही गई बातों का ही अधिक उल्लेख है।

पुस्तक में केवल दो ही पात्र हैं, एक महाराजश्री तथा दूसरा मैं, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उस समय आश्रम में अन्य कोई महत्त्वपूर्ण

व्यक्ति था ही नहीं। मेरे से पहले कृपा-पात्र व्यक्ति कई थे जिनका आश्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान था । मैं तो दीक्षा की दृष्टि से एकदम नया था । वास्तविकता तो यह है कि चाहे महाराजश्री की कितनी भी कृपा रही हो, आश्रम में मैं एक सेवक मात्र था जिसका दूसरे लोगों की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व न था, किन्तु संयोग ऐसा हुआ कि महाराजश्री के साथ घूमने जाने का कार्य मुझे मिल गया तथा सत्संग का अवसर भी । उसी सत्संग के आधार पर मैं यह पुस्तक लिख सका ।

यह पुस्तक वास्तव में मेरा हृदय-मंथन है, महाराजश्री के वचनामृत के प्रकाश में अपने अन्दर झाँकने का अवसर है । यह पुस्तक मैंने दूसरों के लिए कम, अपने लिए अधिक लिखी है । पुस्तक लिखने का सबसे बड़ा लाभ मुझे यह रहा कि चालीस वर्ष के पश्चात् भी महाराजश्री के साथ पुरानी स्मृतियों के जाग्रत होने से, महाराजश्री के समक्ष प्रत्यक्ष होने की अनुभूति सतत् बनी रही। कभी प्रेम प्रदर्शित करते हुए, कभी डाँटते हुए, कभी समझाते हुए, कभी गंभीर, तो कभी हँसते हुए, वह मेरी आँखों के सामने बने ही रहे ।

मन तो यह चाहता है कि महाराजश्री के सभी संस्मरण जो मेरी आँखों के सामने घटित हुए, लिपिबद्ध करूँ । एक पुस्तक १९६० के संस्मरण तो आपके हाथ में है ही । दूसरे भाग में मैंने अपनी संन्यास दीक्षा तक के संस्मरण जो १९६५ में सम्पन्न हुई, उस समय के वचन तथा घटनाएँ लिखीं तथा तीसरा भाग महाराजश्री के ब्रह्मलीन होने तक का (१९६९ तक) । अब मैं ७६ वर्ष का हो गया हूँ । शरीर अस्वस्थ है तथा आँखें जवाब दे रही हैं, इसलिए यह काम हो भी पाएंगा कि नहीं यह श्री गुरुदेव ही जानें ।

आध्यात्मिक साधन के मार्ग में कितनी कठिनाइयाँ हैं तथा इसके लिए कितने उदार तथा सहनशील चित के निर्माण की आवश्यकता है, इसकी अनुभूति श्री गुरू महाराज के सानिध्य तथा सत्संग से प्राप्त हुई । स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ने शक्तिपात् द्वारा इसका सरलीकरण तो कर दिया, किन्तु यह सरलीकरण जाग्रति तक ही सीमित रहा । आगे का मार्ग फिर भी कठिन ही रहा । यदि सच पूछा जाए तो और भी अधिक कठिन हो गया, क्योंकि शक्ति की क्रियाओं में संस्कार अत्यन्त तीव्र गति से उभरते चले जाते हैं । जिससे मन की तरंगें भी बड़ी शीघ्रतापूर्वक अन्तर में स्थान पाती हैं । मन की स्थिति भी जल्दी-जल्दी बदलती है । प्रारब्ध के फल देने की गति भी तीव्र हो जाती है । इन आन्तरिक परिणामों का सामना साधक को बहिर्जगत् में करना पड़ता है ।

साधक के सामने प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् से हटने की समस्या प्रमुख है । जगत् बाहर दृष्टिगोचर भी होता है तथा संस्कार-वासना के रूप में अन्दर भी बैठा है, जिसे हम अन्तर्जगत् कह सकते हैं । बाहर का जगत् जीव को सुखी दुःखी करने के अतिरिक्त, अन्तर्जगत् को पुष्ट भी करता है । वास्तव में अन्तर्जगत् ही, चित्त को तरंगित कर वृत्तियाँ उदय करता है तथा बहिर्जगत् में सुख-दुःख का कारण है । अन्तर्जगत् ही बाहर प्रसारित होता है । संस्काराशय के रूप में यह अन्दर ऐसा जम के बैठा है कि हटना ही नहीं चाहता । जब तक अन्तर्जगत् नहीं हटता, बहिर्जगत् से भी छुटकारा नहीं मिल सकता । कई बार मनुष्य अपने आपको आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत मान लेने की भूल भी कर बैठता है, किन्तु यह भ्रम तभी टूटता है जब वह धड़ाम से नीचे आ गिरता है।

देखा जाय तो समस्या बहिर्जगत् की दिखाई देती है, किन्तु वास्तव में यह अन्तर्जगत् संस्कारों की है, क्योंकि बहिर्जगत् संस्कारों की ही प्रतिछाया है । संस्कार ही वासना का रूप धारण कर, बहिर्जगत् में प्रतिबिंबित होते हैं । ये अन्दर के संस्कार ही जीव को नचाए फिरते हैं ; जिससे जीव का भौतिक शरीर जगत् में भागने लगता है । आसक्ति जगत् में नहीं, मन में है । वासनाएँ एवं विकार भी मन में हैं । उसी के आधार पर कई प्रकार की आशाएँ प्रस्फुटित होती हैं । इस प्रकार यदि विचार किया जाए तो अपनी समस्या हम आप ही हैं, अर्थात् समस्या अपने अन्दर लिए बैठे हैं । भला जगत् हमको क्या पकड़ेगा, हम ही जगत् को नहीं छोड़ रहे ।

जगत् को छोड़ना अर्थात् जगत् में आसक्ति का त्याग सरल नहीं । यह आसक्ति ही सभी विकारों की जड़ है तथा आसक्ति का कारण अविद्या है । अविद्या या भ्रम या जगत् में सत्यता की प्रतीति, कुछ भी कहो, आसक्ति त्याग के पश्चात् का अभिमुख-विषय है । अविद्या से अहम् तथा अहम् से आसक्ति। यह माया का एक ऐसा गोरखधंधा है, जिससे निकल पाना समस्या है । जीव निकलने का प्रयत्न करता भी है तो और भी अधिक उलझता जाता है । फिर मजे की बात यह है कि जीव को पता भी नहीं चलता कि वह उलझता जा रहा है ।

इस तरह यदि देखा जाय तो अहम् तथा आसक्ति, ये ही दो कारण जीव के जगत् में उलझने के हैं । ये ही दोनों मिलकर, अन्तर्जगत् का निर्माण करते हैं । इन दोनों से ही सभी विकार उत्पन्न होते हैं । ये दोनों जीव को जगत् में भटकाते हैं । इन दोनों के नाश हुए बिना अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। यदि यह समझ स्पष्ट हो जाय तो साधन की समझ स्पष्ट हो जाती है, किन्तु प्रथम विषय आसक्ति नाश है। आसक्ति नाश के लिए पहले अहम् का कर्त्ता भाव अर्थात् कर्त्तृत्वाभिमान विलीन करना होता है, प्रारब्ध को क्षीण करना होता है।

एक बार महाराजश्री से किसी ने पूछा कि अभिमान तथा मिथ्या अभिमान में क्या अन्तर है, तो उन्होंने कहा था, "यदि आपके पास धन है तथा आपको उसका अभिमान है तो यह अभिमान है । यदि आपके पास धन नहीं है, किसी दूसरे के पास है, किन्तु उसका अभिमान आपको है, तो यह मिथ्या अभिमान है । जीव के पास शक्ति नहीं है, किन्तु उसे उसका अभिमान है, यह मिथ्या अभिमान है । जगत् में जो कुछ भी मनुष्य के पास है वह उसका नहीं है, क्योंकि कभी भी छिन सकता है । फिर भी जीव में उस सबका अभिमान है जो कि मिथ्या है । कोई शक्ति नहीं होते हुए भी अपने आपको सर्वशक्तिमान प्रदर्शित करता है । कोई बुद्धि नहीं होते हुए भी अपने आपको सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान समझता है । कोई गुण न होते हुए भी अपने आपको सर्वगुण सम्पन्न दिखाता है । यही उसका मिथ्या अभिमान है । यह भी महाराजश्री की चिन्तन शैली तथा साधकों के समझने का विषय है ।

चैतन्य, विभिन्न स्तरों पर चित्त तथा इन्द्रियों के आधार पर, परन्तु शरीर तथा चित्त से भिन्न, अप्रभावित रहकर कार्यशील होता है । शरीर जड़ होने से उसके कार्यशील होने का प्रश्न ही नहीं, वह केवल आधार है । जिस प्रकार कोई मशीन केवल आधार है, जिस पर बिजली कार्यशील होती है । जीव अभिमानवश स्वयं कर्त्ता बन बैठता है, अर्थात् शरीर तथा चैतन्य की भिन्नता को अनुभव नहीं कर पाता । इसको चैतन्य (चेतना) की प्रसुप्तावस्था कहा जाता है । चैतन्य कार्य करते हुए भी जैसे पीछे धकेल दिया जाता है तथा जीवत्त्व आगे आ जाता है । शरीर तथा चैतन्य की पृथकता के अनुभव का आरम्भ हो जाना, जाग्रति कहा जाता है । तब जीव का कर्त्ताभाव, द्रष्टाभाव होने लगता है जो चैतन्य को शरीर तथा चित्त के आधार पर कार्यशील देखता है । तब जीव का मिथ्या अभिमान भी विलीन होना आरंभ हो जाता है ।

जाग्रत अवस्था को प्राप्त करने के लिए जीव-साधक जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त अनेक प्रकार के जप, तप तथा भजन-आराधन करता है । उसे कई प्रकार की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु जाग्रति का अनुभव नहीं होता । बाह्यजगत् पर जीव का लक्ष्य ऐसा जम गया है कि मन, वृत्ति तथा प्राण अन्तर्मुख होना ही नहीं चाहते । वह कई साधनाओं का अभ्यास करता है, कई अनुष्ठान तथा पुरश्चरण करता है, किन्तु बात नहीं बनती । बने भी कैसे? उसका आघात मन पर होता है जिसे एकाग्र करने के फेर में पड़ा रहता है । अस्थायी रूप से मन कुछ एकाग्र होता भी है कि चंचलता फिर आ घेरती है । वह मन के अस्वाभाविक धर्मों को स्वाभाविक धर्म समझे रहता है । माया की परिधि में ही कभी थोड़ा ऊपर उठता है, किन्तु फिर नीचे आ जाता है । चैतन्य की अनुभूति का अवसर भी उदय नहीं होता है ।

इसमें मुख्य कारण अन्तर्जगत् अर्थात् संस्काराशय का होता है । संस्कार ही वासना का रूप धर, अपने अनुरूप चित्त में वृत्तियाँ उदय करते रहते हैं । व्यष्टि स्तर पर चैतन्य नीचे की ओर अर्थात् जगदाभिमुखी प्रवाहित है । इन्द्रियाँ विषयों-भोगों के प्रति लपकती ही रहती हैं । संस्कारों से प्रेरित मन पूरा सहयोग देता ही रहता है । परिणामत: न जगत् दृष्टि से ओझल होता है, न मन तथा इन्द्रियाँ ही अन्तर्मुख हो पाती हैं, न प्राण का बहिर्मुख प्रवाह ही जगत् से संयोग त्यागकर आत्माभिमुख होता है तथा न शरीर, चित्त तथा चैतन्य के पृथक्कत्व का अनुभव ही आरंभ हो पाता है ।

चैतन्य, जिसे इन्द्रियों के आधार पर कार्यशील होने पर चेतना कहा जाता है, इसकी शरीर तथा चित्त से पृथकता की अनुभूति का आरंभ साधन का महत्त्वपूर्ण मोड़ है । अभिमान का विलीनीकरण भी यहीं से आरंभ होता है । चेतना का तात्त्विक तथा प्रत्यक्ष अनुभवयुक्त ज्ञान जिसे विज्ञान भी कहा जा सकता है, समष्टि चैतन्य के अनुभव का द्वार है । इसके बिना न ही संस्कार-क्षय का मार्ग प्रशस्त होता है तथा न ही अहम् के विलीनीकरण का ।

जाग्रति के पश्चात् भी प्रारब्ध का विषय समीक्षा तथा व्याख्या की अपेक्षा रखता है, क्योंकि वह फिर भी भोगना ही पड़ता है । मान लिया कि संचित संस्कारों को क्रियाओं के प्रति द्रष्टाभाव के माध्यम से क्षीण किया जा सकता है, परन्तु प्रारब्ध तो फल दिए बिना मानने वाला नहीं है । महाराजश्री के मतानुसार इसको, सहनशीलतापूर्वक, प्रसन्न तथा अप्रभावित चित्त से अपना किया हुआ जानकर ही भोग लेना, एकमात्र उपाय है । जाग्रति न हो, तो भी प्रारब्ध उदय होता है, किन्तु जाग्रति के पश्चात् इस क्रम में तीव्रता आ जाती है, अर्थात् प्रारब्ध शीघ्रतापूर्वक फल देने लगता है । अत: प्रारब्ध का सामना करने के लिए, साधक का अत्यन्त धैर्यवान होना आवश्यक है ।

महाराजश्री की चिन्तन शैली तथा किसी विषय की व्याख्या शास्त्रीय आधार पर, किन्तु वैज्ञानिक होती थी, अनुभव की पृष्ठभूमि होती थी । जिस विषय का अनुभव न हो, उसे निस्संकोच स्वीकार कर, कहते थे कि यह बात इस अमुक शास्त्र के आधार पर कह रहे हैं । वह कहते थे कि प्रवचनकार प्राय: विषय को इतना खींचता है कि स्वयं ही उलझ जाता है । श्रोता के लिए सारतत्त्व को समझ पाना और भी कठिन हो जाता है । अच्छा यही है कि सारतत्त्व को ही इस ढंग से प्रस्तुत किया जाए जिससे वह सीधा श्रोता के हृदय में प्रवेश कर जाए । वह यह भी कहते थे कि लोग रामायण की एक-एक चौपाई के पन्द्रह बीस प्रकार के अर्थ बताकर, अपने आपको प्रकाण्ड विद्वान मान लेते हैं, किन्तु रामायण की रचना करते समय तुलसीदासजी के मन में

प्रत्येक चौपाई का एक ही अर्थ तथा भाव था । सच्चा विद्वान वही है जो उस एक अर्थ तथा भाव को पकड़ कर जनता के समक्ष प्रस्तुत कर सके ।

हम सब अब तक यही मानते-समझते चले आ रहे थे कि गीता की साधना प्रणाली तथा सिद्धान्त, शक्तिपात् से सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु जब महाराजश्री के श्रीमुख से, गीता की व्याख्या सुनी तो सारा भ्रम निवृत्त हो गया । महाराजश्री कहते थे, "गीता ही क्या, सभी शास्त्रों में शक्तिपात् का विषय वर्णित है । केवल शब्द भेद है, ढंग का अन्तर है । वह तो बाइबल को भी इसी कोटि में रखते थे । यह आवश्यक भी नहीं कि शब्द शक्तिपात् का ही प्रयोग किया जाए। केवल शब्द ही महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु वह विद्या महत्वपूर्ण है जिस का विवेचन किया जा रहा है ।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझ लिया जाए कि महाराजश्री केवल अच्छी बातें करने तथा समझाने वाले महापुरुष ही थे । शास्त्रीय, व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान के साथ-साथ, साधन सम्पन्न भी कम न थे । शक्ति की क्रियाओं पर आपकी मजबूत पकड़ थी । अनुग्रह-निग्रह में सामर्थ्यवान थे, किन्तु उन्होंने कभी भी किसी की क्रियाओं को बन्द नहीं किया, चाहे किसी साधक-पर कितना भी नाराज क्यों न हों, दण्ड देना शक्ति का ही उत्तरदायित्व मानते थे । मैंने 'साधना डायरी' नामक पुस्तक में महाराजश्री की स्वहस्त लिखित डायरी के आधार पर उनके साधन तथा अनुभूतियों पर लिखा है ।

एक बार की घटना मुझे याद है । एक सज्जन ने दीक्षा ली । आयु होगी कोई सत्तर एक वर्ष की । जप साधना के वह अच्छे साधक थे तथा उन्होंने आसन स्थिरता का भी बहुत अभ्यास कर रखा था । काठ की तरह एकदम अकड़ कर बैठते थे, लाठी की तरह सीधे । महाराजश्री ने समझाया कि साधन में शरीर को शिथिल करके बैठो, किन्तु उनका अकड़ कर बैठने का स्वभाव पक चुका था, इसलिए शिथिल होकर बैठना, उनसे जम नहीं रहा था । एक डब्बी में उन्होंने एक सौ आठ खुले मनके रखे हुए थे । साधन में डब्बी को लेकर सामने रख लेते, मन्त्र काफी लम्बा था, एक-एक मनका उठा कर दूसरी ओर, मन्त्र पढ़कर रखते जाते थे, किन्तु क्रियाओं का विकास नहीं हो रहा था। महाराजश्री ने कई बार समझाया कि शिथिल होकर बैठो, नहीं तो शक्ति स्वयं आपको शिथिल कर देगी, किन्तु उन्होंने अकड़ नहीं छोड़ी ।

तीन दिन बीत चुके थे । अभी तक लेशमात्र भी विकास नहीं हो पाया था। महाराजश्री गुफा में गए तो वह अकड़े बैठे, मनके उठाने-रखने में तल्लीन थे । दो क्षण खड़े-खड़े महाराजश्री देखते रहे । उस समय महाराजश्री के शरीर से जैसे चिंगारियाँ फूटने लगीं । चेहरा गम्भीर किन्तु शान्त था । शक्ति के

आवेश में आपने अपना हाथ उन सज्जन के ऊपर किया ही था कि वह जोर से चीखे, उनके दोनों पाँव खुलकर एकदम सीधे हो गए । बड़े वेग से क्रिया आरंभ हो गई । मनके पाँव की ठोकर से छन-छन, सारी गुफा में फैल गए, अकड़ टूट गई ।

महाराजश्री की बातों की पृष्ठभूमि में सदैव साधन के प्रत्यक्ष अनुभवों का बल होता था । श्रीमुख से निकलने वाला प्रत्येक शब्द हृदय की गहराइयों में प्रस्फुटित होकर तथा विवेक द्वारा परिमार्जित होकर ही, वाणी के माध्यम से प्रकट होता था । वाणी में मधुरता, मन में दृढ़ता, हृदय में सर्वजगत् के प्रति कल्याण की भावना तथा बुद्धि में अन्वेषण का भाव था, सरल तथा सौम्य व्यक्तित्व था । साधन में हों या जनसंपर्क में, चैतन्य रूपी डोर कभी भी हाथ से छूटती नहीं थी ।

एक बार का मैं अपना अनुभव कहता हूँ । महाराजश्री, उज्जैन महाकालेश्वर के मंदिर में प्रात: चार बजे की आरती में उपस्थित होने के लिए पधारे तो मैं साथ था। आरती के समय सब ओर आनन्द फैल रहा था । मन्त्रोचार, श्रृंगार, घण्टे-घड़ियाल तथा डमरू की आवाजें, चारों ओर भस्म उड़ रही थी । मैं भी आँखें बन्द किए, शंकर का ध्यान करने के लिए प्रयत्नशील था । जब आरती पूर्ण हो गई तब भी मेरे नेत्र बंद थे तथा शिवलिंग का ध्यान जमाए था कि सहसा लिंग में से सुनाई दिया, "मेरा क्या ध्यान लगाते हो, मैं तो जा रहा हूँ।" मैंने नेत्र खोल तो देखा, महाराजश्री दरवाजे से बाहर निकल रहे थे ।

वैसे शास्त्रों में तो गुरु को शंकर रूप माना ही गया है, किन्तु मन की स्थिति अभी वैसी नहीं थी कि गुरु में शंकर को देख सकूँ । गुरु महाराज के प्रति मन में श्रद्धा तो थी तथा मैं उन्हें सर्वगुणों से सम्पन्न भी मानता था, परन्तु अभी तक उनमें भगवान की भावना नहीं कर पाया था । इस अनुभव ने मुझे, जैसे गहरी नींद से जगा दिया । कई प्रकार के विचार मेरे मन में बिजली की तरह कौंध गए । अन्तत: मैंने इस बारे में महाराजश्री से ही बात करने का निश्चय किया ।

दूसरे दिन प्रात: घूमते समय, मैंने उसी बात को छेड़ दिया तथा अनुभव कह सुनाया । सुनकर महाराजश्री बड़े जोर से हँसे तथा इस प्रकार कहने लगे, "अन्तर की भावनाएँ, वासनाएँ तथा संस्कार ही सभी स्मृतियों, स्वप्नों तथा अनुभवों का आधार हैं तथा इस प्रकार अन्तर्सृष्टि की रचना हो जाती है । इससे स्वप्न या अनुभव के समय की चित्त की स्थिति का पता लग जाता है । मेरे प्रति तुम्हारे मन के अन्दर जो भाव है, उसने अन्दर ही अन्दर, धीरे-धीरे पुष्ट होकर परिपक्वता ग्रहण कर ली । अन्तर में घटित होने वाले इन सूक्ष्म परिवर्तनों से

तुम स्वयं भी अनभिज्ञ हो । जब बाह्य अनुकूलता प्राप्त हुई अर्थात् महाकालेश्वर की भस्म आरती में सात्त्विक वातावरण में ध्यान मग्न हो गए, तो वही सात्त्विक भावनाएँ मूर्त रूप धारण कर खड़ी हो गईं तथा इस अलौकिक अनुभव के रूप में प्रकट हुईं । तुम्हें जो आवाज सुनाई दी, उसका आधार भी वही भावनाएँ थीं। बाहर तो केवल अनुकूलता थी, बाकी सब कुछ तुम्हारे अन्दर प्रकट हुआ ।

"शास्त्र मतानुसार प्रत्येक जीव में परमात्मा आत्मा के रूप में विराजमान है । इस तरह हर जीव को उसका प्रकट रूप भी कहा जा सकता है, किन्तु भ्रम से आवृत्त होने के कारण न जीव स्वयं इसको जाना पाता है, न ही दूसरे लोग उसे, उसके वास्तविक आन्तरिक स्वरूप को देख पाते हैं । इस दृष्टि से विचार किया जाए तो मैं ही क्या तुम भी तथा दूसरे सभी जीव भी भगवान ही हैं, यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी। अपने में तथा अन्य सभी जीवों में भगवान को पहचाने के लिए साधन का विधान है, किन्तु प्रत्येक जीव में भगवान को वही देख पाता है जिसने पहले अपने आपको अन्तर में पहचान लिया हो । कोई आत्म-स्थित ही किसी में आत्मा के दर्शन कर सकता है।"

मैंने पूछा, "प्रत्येक जीव में तो परमात्मा तत्त्व है, किन्तु जड़ प्रकृति क्या कोई अलग तत्त्व है?" महाराजश्री ने कहा, "जड़ तथा चेतन का वर्गीकरण भी मन का एक भ्रम ही है, अन्यथा जड़ भी चेतन की ही एक अवस्था तथा भगवान का स्वरूप है । जिसे सब जीवों में भगवान दिखाई देने लगता है उसे पर्वतों, वृक्षों, बादलों, जल की तरंगों आदि सब में चैतन्य सत्ता ही दृष्टिगोचर होती है । यह साधना का चरम लक्ष्य है जिसे कोई विरला ही प्राप्त कर पाता है ।

"तुमने मेरे भगवान होने का अनुभव किया, किन्तु तुमने अपने अन्तर में अभी तक भगवान को अनुभव नहीं किया, फिर तुम मुझ में भगवान को कैसे देख सकते हो? अतः तुम्हारा अनुभव तुम्हारी भावना का ही चित्रित रूप था ।"

उपर्युक्त अनुभव पुस्तक में नहीं देकर, भूमिका में दिया गया है, क्योंकि यह सन् १९६० के पश्चात् का है, जबकि पुस्तक केवल सन् ६० की ही घटनाओं का संकलन है । दूसरा कोई होता तो मेरी बात सुनकर गद्गद् हो जाता, भले ही ऊपर से वह कुछ ही कहता रहता, "अरे भई, मैं तो सामान्य व्यक्ति हूँ, यह तो तुम्हारी श्रद्धा है जो मुझे भगवान मानते हो ।" पर उसका अन्तर खिल जाता, किन्तु महाराजश्री ने कितने युक्तिसंगत तरीके से बात को समझाया यह उनकी महानता थी । मैं महाराजश्री की प्रशंसा इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि वह मेरे गुरु थे, वरन् वह वास्तव में ही प्रशंसनीय थे ।

महाराजश्री आगंतुक साधकों का पूरा ध्यान रखते थे, भोजन किया कि नहीं, रहने-सोने की व्यवस्था हो गई क्या? बीमार हो जाने पर उपचार हो रहा

है कि नहीं। उनकी साधन संबंधी समस्याओं को भी बड़ी सूक्ष्मता तथा दक्षता से हल करने में सहायक होने के लिए प्रयत्नशील रहते थे । दयालु इतने थे कि किसी की भी व्यथा बड़े धैर्यपूर्वक सुनते थें तथा उचित परामर्श देते थे । आपका कहना था कि सारा जगत् ही विभिन्न प्रकार की समस्याओं तथा चिन्ताओं से ग्रसित है । स्वार्थ इतना है कि सब अपने लिए ही सुख चाहते हैं, पर सब ही दुःखी हैं। विचित्र प्रकार की आपाधापी मची है । किसी की समस्या-व्यथा कोई सुनना भी नहीं चाहता । जबकि किसी को दुःख सुना देने से मन हलका हो जाता है, पर किसे जाकर सुनाएँ । एक साधु ही है जिसके पास जाकर रोना रोया जा सकता है । हम भले ही कुछ न कर सकें, सुन तो सकते हैं ।

मैं महाराज के चरणों के निकट सानिध्य में दस वर्षों से कुछ अधिक समय तक निरन्तर बना रहा । आपने मुझे सेवा का भरपूर अवसर प्रदान किया तथा मैंने उसका आनन्द भी खूब लूटा । अनेक भूलें भी कीं, क्योंकि अपना मन तो मलिन था ही, किन्तु महाराजश्री ने सदैव ही स्नेह प्रदान किया । उनकी डाँट में भी स्नेह झलकता था । वह डाँटते थे, तो क्षमा भी करते थे । ऐसा केवल मेरे साथ ही नहीं था । अनेक शिष्य गुरु प्रेम तथा कृपा लूटते रहे । महाराजश्री का हृदय अत्यन्त उदार तथा विशाल था । जिसमें न केवल पुण्यात्मा ही स्थान पाते थे, अपितु पापात्मा भी सहारा ढूँढ लेते थे । आप कहते कि पापात्माओं से घृणा मत करो, वे सहायता तथा दया के पात्र हैं। फिर भला पापों तथा विकारों से मुक्त कौन है । गिरते को और मत गिराओ, उठने में उसे सहारा दो ।

जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ कि महाराजश्री से संबंधित इस पुस्तक माला के तीन भाग लिखने का भाव है । अभी तो सन् साठ ही मेरे अभिमुख रहा, जो कि आप के समक्ष प्रस्तुत है । बाकी के दोनों भाग कब लिखा पाऊँगा, लिख भी पाऊँगा कि नहीं, अभी कुछ कह नहीं सकता । क्या पता यमदूत कब आकर दबोच लें ।

आज महाराजश्री की प्रत्यक्ष भौतिक देह हमारे बीच उपस्थित नहीं है, किन्तु शक्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कार्य करती ही रहती है । आज भी कतिपय साधकों को महाराजश्री से संबंधित अनेक अनुभव होते हैं । उनकी वाणी आज भी अनेक हृदयों में गूंजती है । उनके द्वारा प्रदत्त उपदेश आज भी हमारा मार्गदर्शन करने को प्रस्तुत हैं । प्रकट होने पर गुरु तत्त्व शरीर की सीमा में रहकर कार्य करता है तथा अप्रकट हो जाने पर असीम सत्ता में स्थित होकर।

अन्त में श्री गुरुचरणों में करबद्ध नम्र निवेदन है कि सभी प्राणी वर्ग पर कृपा करें । उन सबको प्रभु-प्रेम, कर्त्तव्य पालन, उदारता, क्षमाशीलता एवं सहनशीलता प्रदान करें । संसार के जीव अत्यन्त संतप्त एवं अज्ञानी हैं । वे

चाहकर भी आपके चरणों के प्रति आकृष्ट नहीं होते । बार-बार जगत् की ओर ही खिंचे चले जाते हैं, अत: आपकी कृपा के बिना उनके सामने कल्याण का अन्य कोई मार्ग नहीं । आप परम दयालु तथा विशाल-हृदय हैं, सबकी भूलें क्षमा करो, क्षमा करो ।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

हृदय-मंथन भाग एक का पाठकों ने इतने उत्साह से स्वागत किया कि चार-पाँच महीने के पश्चात् ही दूसरा संस्करण छापने की आवश्यकता अनुभव हो गई । धन्यवाद।

पुस्तक प्रकाशन के पश्चात् टेलीफोनों, पत्रों तथा आनेवालों का क्रम आरंभ हो गया है । जब कि आजकल न मैं टेलीफोन सुनता हूँ, न पत्र लिखता हूँ, न ही क़िसी से मिलता हूँ । इसलिए कृपया किसी भी प्रकार से संपर्क का प्रयास न करें । धन्यवाद।

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

हृदय-मंथन भाग एक का प्रथम संस्करण १९९९ में प्रकाशित हुआ । सन् २००१ में इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ । अब सन् २०१० में इसका चौथा संस्करण प्रकाशित हो रहा है । हृदय मंथन तीनों भाग साधकों एवं पाठकों के लिए प्रकाश स्तंभ के सदृश है ।

इस सहयोग के लिए मैं पाठकों का आभारी हूँ तथा आशा करता हूँ कि वह इस पुस्तक श्रृंखला से मार्गदर्शन ग्रहण कर, अपनी साधना को सही दिशा देने में सफल होंगे ।

स्वामी शिवोम् तीर्थ

हृदय-मंथन

जब मैं नारायण कुटी पहुँचा तो सूरज ढल चुका था । दूर से कुटी ऐसे दिखाई दे रही थी, जैसे सारे संसार के गेंदा तथा जैनिया के पुष्पों को यहीं एकत्रित कर दिया गया हो । फाटक के अन्दर प्रवेश किया तो एक अलौकिक शक्ति मन को प्रभावित करती-सी प्रतीत हुई । कुटी दर्शन कर प्राचीनकालीन ऋषियों के आश्रमों की याद ताजा हो गई । मैं कंधे पर झोला लटकाए तथा तार-बँधा डालडे का एक डब्बा हाथ में लिए आगे बढ़ा तो कुछ आश्रमवासी दिखाई दिए । अपना परिचय देते हुए मैंने कहा, ''नांगल से आया हूँ । महाराजश्री ने पत्र लिखकर बुलवाया है ।'' उत्तर था, ''महाराजश्री तो नेपाल गए हुए हैं, एक दो महीने में लौटेंगे ।'' सुनकर कुछ सोच में पड़ गया ।

आश्रम एक टेकड़ी की तलहटी में स्थित था । पहाड़ को तराश कर सीढ़ीनुमा स्थान बनाया गया था । सब के नीचे एक छोटा-सा रसोईघर तथा एक कुंआ था । उसके ऊपर के तल पर महाराजश्री के रहने का घर था । उसी के दूसरे छोर पर शंकर का एक छोटा-सा मंदिर था । उसके ऊपर के एक तरफ एक अधूरा बना मकान था, बाकी सब फूल ही फूल । मेरे पास नांगल के एक सज्जन का परिचय पत्र तथा महाराजश्री का आया हुआ पत्र था, दोनों मैंने दिखा दिए । परिचय पत्र तो उन्होंने पढ़ लिया, किन्तु महाराजश्री का पत्र उर्दू में होने के कारण कोई भी पढ़ न सका, क्योंकि वहाँ कोई उर्दू जानता नहीं था, पर पत्र महाराजश्री ने छपे हुए लैटरहैड पर लिखा था, इसलिए महाराजश्री का पत्र होने में कोई शंका नहीं थी ।

मुझे रसोईघर में, खाने के कमरे में ठहरा दिया गया । रात को लेटा-लेटा मैं विचार करने लगा, 'मैं कहाँ से कहाँ आ गया ! कहाँ हिमाचल प्रदेश का मण्डी जिला और कहाँ मध्यप्रदेश का देवास नगर । फिर हिमाचल के लोग, उनका व्यवहार, खान-पान तथा रीति-रिवाज, उनकी भाषा तथा वातावरण, पहाड़ों की ऊँचाईयाँ तथा गहराइयाँ, सतलज नदी तथा हरियाली याद आने लगे। मैं कैसा उन्मुक्त पक्षी की तरह विहार करता था । आती बार मेरे पास कुछ भी नहीं था । न मैं पैसा लेता था, न रखता था, किन्तु रेलगाड़ी मेरे घर की नहीं है । वह यह नहीं देखती कि धनिक है या निर्धन। वह सबको एक समान, यात्री के रूप में देखती है । बिना रेल-भाड़े के टिकिट नहीं, बिना टिकिट यात्रा नहीं । कार्यक्रम तो बना लिया, किन्तु देवास पहुँचूँगा कैसे? मेरे कहे बिना ही, उन लोगों ने राह खर्च के लिए मुझे चालीस रूपए दिए थे । उन दिनों ये बहुत होते थे । इस प्रकार इस समय मैं देवास में बैठा हूँ ।'

प्रात:काल उठा तो एक अनपेक्षित घटना घट गई । कच्चा साधक तो था ही । सच तो यह है कि साधक भी नहीं था, अभिमान बहुत था, थोड़ी-सी बात से विचलित हो उठता था, सहनशीलता नाम को भी नहीं थी । किसी ने जरा-सा कुछ कह दिया था, जो मुझे बुरा लग गया था । वैसे बात तो थी, किन्तु इतनी बड़ी भी नहीं कि अनदेखा न किया जा सके । मैं अन्दर ही अन्दर जल उठा । जब इस प्रकार कोई बात हो जाती है, तो मन न जाने क्या-क्या सोच लेता है । 'मैं गलत जगह तो नहीं आ गया ? यदि ऐसे ही चलता रहा तो महाराजश्री के आने तक कैसे टिक पाऊँगा?' कल तक जो स्थान अलौकिक लग रहा था, अब खाने को आ रहा था । भाग जाने को मन करने लगा, किन्तु दीक्षा का क्या होगा? यह सोचकर किसी प्रकार मन को समझा लिया ।

सत्य तो यह है कि आश्रम में यह मेरा प्रथम प्रशिक्षण था, सहनशीलता का । मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि महाराजश्री ने नेपाल से ही अपना गुरु-कार्य आरंभ कर दिया है । जैसे मुझे समझा रहे हों कि, "आध्यात्मिकता के क्षेत्र में पाँव रख रहे हो, तो पहले इस बात को समझ लो कि पग-पग पर फिसलन है, पल-पल उद्विग्नता है, बड़े सँभलकर चलने की आवश्यकता है । अभी एक छोटा-सा कारण तुम्हारे सामने आया और तुम लुढ़क गए !" इन विचारों के आते ही नया उत्साह पैदा हो गया, सारी ग्लानि जाती रही । चेहरे पर फिर से मुस्कुराहट झलकने लगी ।

अब मैं सोचने लगा कि महाराजश्री तो दो-एक महीने में लौटेंगे, तब तक समय कैसे कटेगा? कुछ सेवा-कार्य ही हो, तो समय व्यतीत करने का बहाना मिल जाए। एक आश्रमवासी से बात की कि मुझे कुछ सेवा-कार्य बता दिया जाए तो वह बोले, "सेवा क्या है? भजन करो ।" मुझे बात जमती न दिखी । गढ़वाल के एक ब्रह्मचारी जी भी, मेरी ही तरह दीक्षा के लिए महाराजश्री की प्रतीक्षा में आश्रम पर रह रहे थे । उनमें राग-द्वेष की मात्रा काफी थी । उनसे बात हुई तो वह मुझे भड़काने लगे । मैं समझ गया कि यह मेरी चित्त स्थिति भंग करके छोड़ेंगे । इनसे बचना ही अच्छा है । इसके उपरान्त मैंने कभी उन्हें अधिक मुँह नहीं लगाया ।

रसोईघर के सामने काफी खुली जमीन बेकार पड़ी थी, किन्तु पथरीली थी । मैंने खोद-खोद कर पत्थर निकालने आरम्भ कर दिये । थोड़े दिनों में पत्थर निकल गए तथा मिट्टी बच गई । वह भी पथरीली थी पर साग-सब्जी उग सकती थी । मैंने किसी को कहकर कुछ सब्जियों के बीज मँगवा लिए । थोड़े दिन में सब्जी की बहार आ गई ।

महाराजश्री के साथ देवास से भी कुछ लोग गए थे । महाराजश्री तो इधर-उधर घूमते हुए देवास वापिस आने वाले थे, किन्तु देवास के लोग वापिस

आ गए । उनमें दो एक आश्रमवासी भी थे । इतने में जो व्यक्ति आश्रम के लिए खरीददारी का काम करता था, वह किसी कारण चला गया तथा इस प्रकार वह काम मेरे पास आ गया। महाराजश्री की कुटिया की साफ-सफाई में भी हाथ बँटाता । इस प्रकार आश्रमवासियों में मेरी गणना होने लग गई । कुछ दिनों के पश्चात् भोजन बनाने वाला भी चला गया। भोजन बनाना मुझे आता नहीं था, किन्तु जब तक दूसरी व्यवस्था नहीं हो गई, मुझसे जैसा जमता, बनाता था । आश्रम पर एक बाई बरतन माँजने आया करती थी । वह नागे बहुत करती थी, प्राय: बरतन हम लोगों को ही साफ करने पड़ते थे ।

अब एक तरह से मेरा आश्रम-जीवन आरंभ हो चुका था । कहाँ तो हिमाचल प्रदेश में जंगल में एक कुटिया, ऊपर पत्तों की छत, दीवार कोई नहीं, सामान कुछ नहीं, एक जोड़ी कपड़े शरीर पर, एक सूखने में, कभी मन हुआ तो सतलज के किनारे जा बैठे, साधन की इतनी समझ थी नहीं, मुख्यत: जप, अध्ययन, भजन-गायन, न कुछ लेना न रखना । अब काफी अन्तर आ गया था। दोनों समय भोजन बनता था, रहने-सोने के लिए घर, दोनों समय चाय, बातचीत करने के लिए कुछ लोग, मंदिर में आरती । मेरा मन उड़कर लौट जाने का होता था । जहाँ कुछ लोग इकट्ठे होते हैं, कुछ राग-द्वेष चलता ही है। वहाँ सतलज की सतत् ध्वनि के अतिरिक्त सत्संग के लिए दूसरा कोई नहीं था। शान्त, स्तब्ध वातावरण, किन्तु फिर दीक्षा का क्या होगा? यहाँ आकर बात अटक जाती ।

मेरा जप अब भी चलता था । पुस्तकालय था ही, अध्ययन भी कुछ न कुछ करता ही रहता तथा भजन भी गाता था । मैं लोगों के पास कम ही बैठता था, किन्तु लोग मेरे पास आकर बैठ जाते थे । मुझे उनकी बातों में कोई रुचि न थी, पर उन्हें बातें करना थीं । विषय प्राय: राग-द्वेष ही होता था, या गर्वोक्तियाँ कहते या राजनीति पर चर्चा चलती या किसी की निन्दा करने लगते। नम्रता तथा भावपूर्ण सत्संग की कोई बात नहीं । मैं ज्यादातर चुप ही रहता, सुनता रहता । सबसे बड़ा आकर्षण गुफा में बैठे साधकों की क्रियाओं की आवाजें था । कितना आनन्द थां उन क्रियाओं तथा आवाजों में, जैसे साधक, जगत् से बेपरवाह बने बैठे हों । ऐसे आनन्द को अनुभव करने के पश्चात् भी, ये बाहर आकर, राग-द्वेष की दलदल में क्यों फँस जाते हैं?

अन्तत: वह समय आ ही गया, जब महाराजश्री आने वाले थे । उनके आने के समाचार से ही वातावरण में बदलाव के लक्षण प्रकट होने लगे थे । जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व आकाश में लालिमा छा जाती हैं, उसी प्रकार आश्रम के वातावरण में सात्त्विकता का संचार होने लग गया था । लोगों की बातचीत में आध्यात्मिकता, उदारता तथा सहनशीलता दिखाई देने लगी थी । राग-द्वेष का विषय विलुप्त हो चला था । सभी के मन उत्साह से भर गए थे।

फिर वह दिन आ ही गया जब महाराजश्री का आश्रम में पदार्पण हुआ। एक सज्जन उनकी सेवा में साथ थे तथा उन्हें देवास तक पहुँचाने आए थे। मैं पहले भी महाराजश्री के गाजियाबाद में दर्शन कर चुका था तथा नांगल में भी तीन दिन उनकी सेवा में रह चुका था, इसलिए अपरिचित नहीं था, किन्तु पहले ही दिन दो घटनाएँ ऐसी हुईं, जिन्होंने मुझे झकझोर कर रख दिया।

महाराजश्री ने मुझे बुलाया तथा पूछा, ''क्या तुम्हें माला गाँठना आता है?'' मेरे हाँ कहने पर उन्होंने रुद्राक्ष की टूटी हुई एक माला देकर कहा, ''यह रास्ते में टूट गई है। मैंने गिनकर देखा, मनके पूरे हैं। बाजार से रेशम का डोरा ले आना, इसे गाँठ देना।'' मैं माला लेकर सोच रहा था कि इसे रखूँ कहाँ? क्योंकि मेरा सोना भोजन करने के कमरे में था। रसोईघर के एक कोने में एक कमरा था, जिसमें एक सज्जन रहते थे। उनकी पूजा के स्थान पर, एक कटोरी में माला रख दी गई तथा मैं डोरा लेने बाजार चला गया। वापिस आकर देखा तो माला गायब। बहुत ढूँढा, पर माला नहीं मिली। मुझे बहुत डर लगा ही महाराजश्री ने पहला ही काम कहा और वही चौपट। डर के मारे महाराजश्री से कहा भी नहीं जा रहा था। अन्ततः साहस बटोरकर निवेदन कर दिया। महाराजश्री ने कहा, ''माला गुम हो गई तो इसमें डरने की क्या बात है? गुम हो गई तो हो जाने दो। हमारे पास बहुत मालाएँ आती हैं।''

दूसरी घटना इस प्रकार है। देवास पहुँचाने के लिए जो सज्जन महाराजश्री के साथ आए थे, सायंकाल को उन्होंने टेकड़ी पर घूमने जाने की जिज्ञासा प्रकट की, तो महाराजश्री ने मुझे बुलाकर कहा कि तुम इनके साथ जाओ तथा इन्हें घुमाकर साथ ही वापिस ले आना। हम दोनों बातचीत करते हुए चले तथा टेकड़ी की चोटी पर जा बैठे। उन्होंने मेरे से पूछा कि आपको आश्रम में कोई काम तो नहीं है? मैंने कहा कि काम तो बहुत है। आश्रम के कई काम मेरे जिम्मे हैं। उन्होंने कहा कि आप निस्संकोच जा सकते हैं। मैं थोड़ी देर ठहर कर वापिस आ जाऊंगा।

मैं जब लौट के वापिस आश्रम में आया तो महाराजश्री वराण्डे में बैठे हुए थे। बोले, ''तुम्हें तो कहा था कि उन्हें साथ लेकर आना, फिर छोड़कर क्यों चले आए?'' मैंने निवेदन किया, ''उन्होंने कहा है कि आपको काम हो, तो आप वापिस चले जाओ, मैं थोड़ी देर में आ जाऊँगा।'' महाराजश्री ने कड़ककर कहा, ''जब मैंने कहा था कि साथ ही आना तो आए ही क्यों? अब तुम वापिस टेकड़ी पर जाओ, उनके साथ ही आना।'' मैं दोबारा फिर टेकड़ी चढ़ गया। ऊपर जाकर देखा तो वह कहीं भी दिखाई नहीं दिए। मैंने समझा कि संभव है वापिस आश्रम पर चले गए हों, लौट पड़ा। आश्रम पर आकर देखा तो वहाँ भी नहीं थे। अँधेरा होने को आ गया था, मंदिर में आरती हो रही

थी, महाराजश्री भी मंदिर में ही थे। आरती पूर्ण हुई तो पूछा कि आ गए क्या? मैंने उत्तर दिया कि वह ऊपर कहीं भी नहीं मिले। महाराजश्री नाराज होते हुए बोले "तुम को लौटकर फिर टेकड़ी पर जाना पड़ेगा तथा उन्हें ढूँढकर लाना होगा।" मैं फिर से टेकड़ी पर जाने के लिये मुड़ा तो एक सज्जन साथ हो लिए अँधेरा हो जाने के कारण टार्च भी साथ ले ली। ऊपर जाकर सब देखा, आवाजें लगाईं, पर वह नहीं मिले। निराश हो आश्रम लौट आए। देखा तो वह महाराजश्री के पास बैठे हुए थे। कहने लगे, "क्षमा करना, मेरे कारण आपको कष्ट हुआ। मैं दूसरे रास्ते से देवास में घूमने चला गया था।" इन दोनों घटनाओं ने मुझे काफी कुछ सोचने के लिए विवश कर दिया।

महाराजश्री नित्यप्रति प्रात: भ्रमण के लिये जाया करते थे। मुझे महाराजश्री के साथ जाने के लिए कर दिया गया। भ्रमण -समय आपने पिछले दिन की बात छेड़ दी, "देखो ! घबराना नहीं। कल जो कुछ हुआ, वह तुम्हारे हित में ही है। तुम्हारे लिए जो काम निश्चित कर दिया जाय, उस पर कायम रहना तुम्हारा कर्त्तव्य है। तुम्हें उन सज्जन के साथ भेजा गया था कि उनके साथ ही वापिस आना; किन्तु तुम उन्हें अकेला छोड़कर चले आए। यह तुम्हारी भूल थी। इसीलिए तुमको तीन बार टेकड़ी पर चढ़ना पड़ा। अब तुम जीवन भर, अपनी इस भूल को भूल नहीं पाओगे। यदि भविष्य में तुमने सावधानी बरती तो इसमें तुम्हारा ही कल्याण होगा।"

मैंने कहा, "मुझे अपनी भूल का एहसास है। मैं प्रयत्न करूँगा कि भविष्य में ऐसी भूल न हो।" महाराजश्री ने कहा, "गुरु -शिष्य संबंध बड़ा कोमल, किन्तु कल्याणकारी होता है। गुरु, शिष्य को पुत्रवत् समझ कर, उसे टेढ़े-मेढ़े मार्गों से निकाल ले जाते हैं, जिन्हें शिष्य के लिए समझ पाना कठिन होता है। इसीलिए कई बार शिष्य अभिमान में आकर, गुरु की अवज्ञा कर जाता है, इच्छा तथा आदेश की अवहेलना करता है। यद्यपि गुरु उसे कुछ भी न कहे, किन्तु फिर भी वह संभावित लाभ से वंचित रह जाता है। इसके लिए शिष्य में गुरु के प्रति संपूर्ण समर्पण की आवश्यकता है, तुम्हें यही शिक्षा ग्रहण करने के लिए तीन बार टेकड़ी पर चढ़ना पड़ा। अब तुम जीवन भर इस शिक्षा को नहीं भूल पाओगे। गुरु शिष्य को समझाने के लिए क्या-क्या उपाय अपनाते हैं, इसको केवल गुरु ही समझते हैं।"

महाराजश्री की कृपा देखकर मैं गद्गद् हो गया। कहा, "महाराजजी, मैं तो इस बात को समझ ही नहीं सका। अभी तक मुझे गुरु-शिष्य संबंध का कुछ भी अनुभव नहीं है। मैं तो इस संबंध की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करता था। अब आपके चरणों में आया हूँ तो मार्ग मिलता जाएगा।"

उस समय प्राय: सभी आश्रमवासी मराठी भाषी थे । रियासतें नयी-नयी विलीन हुई थीं । देवास रियासत की सरकारी भाषा मराठी ही थी, इसलिए मराठी का प्रभाव अभी बना हुआ था । आश्रम पर आने-जाने वाले लोग भी अधिकांशत: मराठी में ही बोलते थे । मैं पंजाब से सीधा अभी आया ही था । केवल कुछ समय से ही हिमाचल में रह रहा था। मराठी भाषा से एकदम अनभिज्ञ था, भला मराठी क्या समझता? एक शब्द भी पल्ले नहीं पड़ता था । महाराजश्री नेपाल से आए तो देखा, वह भी बड़ी अच्छी धाराप्रवाह मराठी बोलते हैं । लोग आपस में बातें करते, मैं टुकुर-टुकुर देखा करता । रीती-रिवाज, खान-पान, पहिरावा, भाषा सभी कुछ पंजाब से एकदम भिन्न । हाँ, मेरे साथ लोग अवश्य हिन्दी में बात करते थे, किन्तु मुझे भलीप्रकार से हिन्दी बोलना भी तो नहीं आता था । मेरी पंजाबी मिश्रित हिन्दी सुनकर लोग मुझ पर हँसते थे, पर क्या किया जा सकता था? धीरे-धीरे कुछ समझने लग गया।

हिमाचल प्रदेश में रहते हुए, बिना काम के रहने का अभ्यस्त हो गया था, किन्तु देवास आकर, मेरे पास खूब काम था । प्रात:कल महाराजश्री को घूमने के लिये ले जाना, फिर आश्रम की चाय बनाना, फिर बाजार खरीददारी के लिये जाना, उन दिनों महाराजश्री को आँखो में कैटरेक्ट था, उन्हें समाचार पत्र पढ़कर सुनाना एवं तत्पश्चात् आश्रम के काम में लग जाना। मुझे यह भी पता नहीं था कि क्या कहकर, दीक्षा के लिए प्रार्थना करना चाहिए । मैं समझता था कि महाराजश्री जानते ही हैं कि मैं दीक्षा के लिए आया हूँ । यही बहुत है । जब उचित समझेंगे, अपने आप कहेंगे ।

अन्तत: वह दिन आ ही गया । गढ़वाली ब्रह्मचारी प्रतीक्षा में बैठे ही थे। बम्बई से एक सज्जन भी आ गए। महाराजश्री ने मुझे कहा, ''कल इन लोगों की दीक्षा है । तुम भी बैठ जाना ।'' मैं ने ''जी हाँ'' तो कर दी, किन्तु बैठ जाने का अर्थ नहीं समझ पाया । किसी से पूछा तो उन्होंने कहा, ''अरे भई कल तुम्हारी दीक्षा है । तुम भी गुफा में बैठ जाना । अपना सामान ले आओ ।'' मैंने कहा, ''सामान ! क्या सामान?'' मैं इन सब बातों से एकदम अपरिचित था, अन्जान । उन्होंने कहा, ''हार फूल, फल, मिठाई, नारियल, पूजा सामग्री और जो कुछ लाना चाहो तथा नकद दक्षिणा ।'' अब मैं सोचने लगा कि मेरे पास एक पैसा भी नहीं है। आते समय चालीस रूपए में से जो दो एक बचे थे, उनसे मैंने एक लोटा तथा एक अँगोछा खरीद लिया था । अब सामान कहाँ से लाऊँगा? क्या दीक्षा लेने के लिए यह सामान आवश्यक है? महाराजश्री की सेवा में एक सज्जन थे, जिन्हें महाराजश्री भी बहुत चाहते थे, जो मेरे से भी बहुत प्रेम करते थे तथा मैं भी उनका आदर करता था। उनका सदैव ही मुझे सहयोग प्राप्त रहता था । उनसे बात हुई उन्होंने मुझे एक रुपया दिया कि

जाकर, बाजार से जो चाहो, सामान ले आओ। मैं बाजार गया, चार आने की एक माला ली। बारह आने हाथ में लेकर सोच रहा था कि और क्या लूँ? अन्त में यही निश्चय किया कि माला ही बहुत है, बारह आने वापिस जाकर उन सज्जन को दे दिए। गढ़वाली ब्रह्मचारी ने अपने फल में से दो केले तथा एक सेब दे दिया। मेरी थाली सज गई।

दूसरे दिन प्रात: काल गुफा में सब यथा समय पहुँच गए। बम्बई के सज्जन इतना सामान लाए थे कि आधी गुफा भर गई। गढ़वाली ब्रह्मचारी ने भी सौ एक रुपया खर्च किया था। मैं भी एक थाली में दो केले तथा एक सेब लिए बैठा था। पूजन के पश्चात् महाराजश्री ने श्लोक पढ़ने आरम्भ किए। फिर एक-एक के माथे पर हाथ रखा। अभी महाराजश्री वापिस अपने आसन पर भी नहीं पहुँच पाए थे कि मेरा शरीर बड़े जोर से, कोई तीन-चार फीट ऊँचे उछला तथा धड़ाम से नीचे गिरा। उसके पश्चात् अत्यन्त वेगवान क्रियाएँ आरम्भ हो गईं। नसें तनने लगीं। घूमना, कम्पन, पसीना, रोना-चिल्लाना होने लगा। महाराजश्री तो थोड़ी देर बैठकर चले गए, किन्तु मेरा वेग थमने का नाम ही नहीं लेता था। धीरे-धीरे सब लोग उठकर चले गए, किन्तु मुझे बारह बजे भी उतना ही वेग था। कभी नाचने लगता, तो कभी लोट-पोट होने लगता, आँखें खुलती ही नहीं थी। एक बार चाय की आवाज कानों से टकराई पर कौन उठे, रोने-चिल्लाने में भी अनूठा आनन्द अनुभव होता था। जगत् में मानो चारों ओर शक्ति ही शक्ति भरी थी। गुफा भी घूमती प्रतीत होती थी।

बारह बजे के करीब कोई मुझे उठाकर गुफा से बाहर लाया, मैं जैसे नशे में झूमता हुआ बारह निकला। भोजन तो क्या करता, आकर पड़ गया। एक पुरानी घटना मुझे याद आने लगी। नांगल में एक बाबाजी थे। मैं उन दिनों सायंकाल को, सनातन धर्म सभा पुस्तकालय में सेवा करता था। एक दिन बाबाजी वहाँ मिले। बाद में किसी से उन्होंने कहा कि लड़का अच्छा है पर ताला बन्द है, कोई खोलने वाला चाहिए। तो क्या यही वह बन्द ताला था, जो आज खुल गया है ? क्या महाराजश्री ही ताला खोलने वाले हैं?

फिर मुझे स्वामी रामतीर्थ का एक लेख याद आ गया, जिसमें उन्होंने लिखा था कि जगत् के सभी साधक झूठे हैं। सच्चा साधक एक प्रभु ही है। उस समय मैं उस लेख का भाव नहीं समझ पाया था। अब जैसे आँखों के सामने से धुंध छँटती जा रही थी। ठीक है, मनुष्य अभिमान करता है, अभिमान साथ लेकर ही साधना करता है, किन्तु अभिमानयुक्त होने से, वह साधन झूठा होता है। साधना में भला अभिमान का क्या काम? एक ईश्वर ही ऐसा है, जो साधक में अपनी शक्ति को अन्तर्मुखी करके, साधक के शरीर तथा चित्त के माध्यम से, साधक के हित में साधन करता है, फिर भी अभिमान नहीं करता,

उपकार नहीं जताता, प्रशंसा नहीं चाहता, कोई पारितोषिक नहीं माँगता।

फिर हिमाचल प्रदेश में, सतलज के किनारे की स्मृतियाँ जाग उठीं। वहाँ एकान्त, शान्त एवं रमणीक वातावरण तो था, किन्तु वहाँ इन अनुभवों की कल्पना तक नहीं थी। वहाँ का अनुभूत आनन्द मुझे भावनात्मक ही दिखाई देने लगा। क्या किसी समय आज का आनन्द भी काल्पनिक एवं भावनात्मक होकर ही तो नहीं रह जाएगा? सुनते आए थे कि शक्ति की जागृति अत्यन्त ही दुर्लभ है। जपी-तपी दीर्घकाल तक वनों में इसके लिए तप तपते हैं, आसन, मुद्राओं तथा प्राणायाम का अभ्यास करते-करते पलकें लटक जाती हैं, किन्तु फिर भी शक्ति जाग्रत नहीं हो पाती, किन्तु अभी यह सब पलक झपकते ही कितनी सहजता से सम्पन्न हो गया! इसे योगायोग कहा जाए या महाराजश्री की अनुकम्पा का परिणाम! सम्भवत: दोनों। मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ। यह सोचते-सोचते मेरा अभिमान जाग उठा। अब मैं साधक कहला सकता हूँ, किन्तु शीघ्र ही मेरी अभिमान रूपी तन्द्रा भंग हो गई, में सावधान हो गया। यह क्या? यह कैसा अभिमान? और वह भी उसके लिए जो तुमने किया ही नहीं! मुझे रोना आ गया। संभवत: यह भी क्रिया ही थी। क्रिया ऐसे ही तो होती है, जब भी कभी भी, बैठे बिठाए। महाराजश्री के चरणों में मेरा माथा झुक गया। सच ही है, शास्त्रों तथा संतों ने, गुरु की जो महिमा गाई है वह निरर्थक नहीं। अब गुरु के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों स्वरूप मेरे समक्ष प्रत्यक्ष थे। गुरु के वास्तविक स्वरूप को समझ पाने के लिए गुरुकृपा की ही आवश्यकता होती है। अपना प्रयत्न करते तो रहना चाहिए पर प्राप्ति कृपा से ही होती है। मैं इन सब बातों को सोचता रहा या यूँ कहो कि यह सभी विचार मेरे अन्तर में उभरते रहे। इन विचारों के साथ ज्ञान था, अनुभव था, भाव था। वाह वा, वाह वा, मेरे गुरुदेव! कृपा पाकर, धन्य हुआ।

किन्तु एकदम यह क्या हुआ? मेरे अन्तर में विकारों की चिंगारियाँ फूटने लगीं। हृदय रूपी गहरे सागर में वासनाओं की तरंगें उठने लगीं। अभी मैं आनंदविभोर बैठा था, फिर सहसा यह क्या हो गया? कभी विकारों से अलग रहकर उनका अवलोकन करता, तो कभी स्वयं ही विकार प्रवाह में बहने लगता। कुछ देर इसी ऊहापोह में रहा। मन में ग्लानि भरती जा रही थी कि प्रकाश की एक किरण फूटी। ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई व्यक्ति घर का गंदा सामान उठा-उठाकर बाहर फेंकता जा रहा है, पर गंदगी तो बहुत अधिक है। कब तक यह सफाई में लगा रहेगा? यह भी थक न जाए, किन्तु फिर भी मेरा मन काफी शान्त हो चुका था।

प्रात: काल भ्रमण के लिए गए तो महाराजश्री ने इस प्रकार चर्चा आरंभ की, "हमारी परंपरा का आरम्भ स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज से होता है । पुरी (ओड़ीसा) निवासी स्वामीजी एकान्तप्रिय साधक थे । वह सोचते, "भयानक कलिकाल है । सब ओर वासना, अभिमान, स्वार्थ एवं काम-क्रोध का प्रकोप है । सब के मन अत्यन्त चंचल हो चुके हैं । भगवद्स्मरण करना भी चाहें तो भी नहीं कर पाते । ऐसे में वासना रूपी समुद्र में ही गोते खाते रहते हैं । उनके पास कोई अवलम्बन भी नहीं है, है भी तो केवल काल्पनिक ही । यदि उन्हें किसी भी प्रकार, थोड़ा सा भी प्रत्यक्ष अनुभव हो जाय, तो सशक्त अवलम्बन मिल जाय । फिर उसी के सहारे, उनकी साधना चलती रहेगी । मैं तो विरक्त हूँ, कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय, जिसके माध्यम से लोगों को कुछ अनुभव करवाया जा सके । अन्त में स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के रूप में, माध्यम मिल ही गया । स्वामी जी के संकल्प में शक्ति थी जिसका मुख्य कारण यह था कि उन्हें अपने लिए किसी वस्तु की लालसा न थी । न धन-वैभव की, न मान-प्रतिष्ठा की । यही तो विरक्ति का स्वरूप है । उनकी संकल्प शक्ति का ही परिणाम है कि आज भारत के प्रत्येक छोर पर शक्तिपात् में दीक्षित साधक देखे जा सकते हैं ।

"शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति केवल अवलम्बन ही उपलब्ध नहीं करवाती अपितु क्रियाशीलता के लिए शक्ति भी प्रदान करती है, प्रत्यक्ष अनुभव भी करवाती है, द्रष्टाभाव में भी स्थित करती है तथा मन को भी निर्मल बनाती है। इन सबके अभाव में भक्ति असंभवप्राय: है । यह स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज की महती कृपा ही है कि स्वयं प्रपंचों से दूर रहते हुए भी उन्होंने जनकल्याण की व्यवस्था की । इससे यह ज्ञात होता है कि सामान्य जन के लिए उनका मन कितना चिन्तित था ।"

इस पर मैंने प्रश्न किया, "क्या विरक्त के लिए सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ त्याज्य हैं ? आश्रम चलाना, दीक्षा देना, प्रवचन करना इत्यादि, यह सब तो जनकल्याण के कार्य हैं न?" इस पर महाराजश्री ने कहा, "विरक्तों की भी कई श्रेणियाँ हैं, कई स्तर हैं । कोई थोड़ा विरक्त, कोई बड़ा विरक्त, कोई एकदम विरक्त । जिसमें जितनी अधिक विरक्ति होती है उतना ही बड़ा विरक्त होता है । तुम जिन्हें विरक्त समझ रहे हो, उन में अधिकतर विरक्त होते ही नहीं। शिष्य मण्डली बनाने की लालसा, आश्रम में आसक्ति, यश की इच्छा, वक्तृत्त्व तथा लेखन का अभिमान, यह विरक्त के नहीं, संसारी के लक्षण हैं । संन्यास एक आश्रम है तथा विरक्ति चित्त की एक अवस्था । यह आवश्यक नहीं कि हर वह व्यक्ति जिसने संन्यास दीक्षा ग्रहण की है, वह विरक्त भी हो। ऐसे अभिमानयुक्त तथा कथित विरक्तों को विरक्त कोटि में लिया ही नहीं जा सकता ।

"जिसमें वास्तव में ही जन कल्याण की भावना हो, आसक्ति, यश, राग-द्वेष आदि भाव नहीं हों, हों भी, तो भी संयम से दबा दिए गए हों, उनको अवश्य ही विरक्तों में गिना जा सकता है । एकदम विरक्त को सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ जंजाल ही दिखाई देती हैं, चाहे वह कितना ही शुद्ध सात्त्विक एवं परोपकारी क्यों न हो । इसलिए वह सदैव ही एकान्तप्रिय होता है । स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ऐसे ही एकदम विरक्त महात्मा थे । न किसी के अच्छे में, न बुरे में, न कहीं जाना, न आना। साधना को छोड़कर और किसी बात में रुचि ही नहीं । जब तक प्रारब्ध है, शरीर तो धारण करना ही पड़ेगा, किन्तु साधनमय ही जीवन जीना ।"

मेरा अगला प्रश्न था, "गुरु, शिष्य पर कृपा कर, उसे अपनी दिव्यशक्ति प्रदान करते हैं, तो गुरु की शक्ति में कुछ कमी आ जाती होगी?" महाराजश्री बोले, "गुरु कुछ शक्ति प्रदान नहीं करते, केवल कृपापूर्ण लक्ष्य प्रसारित करते हैं । प्रत्येक जीव में शक्ति पहले से ही विद्यमान है, उसे किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता ही नहीं। फिर बाहर, दूसरी शक्ति है भी नहीं । जीव को अन्तर में प्रसुप्त शक्ति (जगदाभिमुखी) को जाग्रत करने के लिए केवल गुरुशक्ति के अवलम्बन की आवश्यकता होती है । शक्ति तथा शक्ति का अवलम्बन, यह दो भिन्न बातें हैं । गुरु कृपापूर्वक शिष्य को अवलम्बन प्रदान कर देते हैं । शिष्य की शक्ति जाग्रत कर, गुरु की शक्ति लौट आती है । यही शक्तिपात् है । संतों के चित्त का अवलम्बन लेने की कई साधनाएँ प्रचलित हैं, संतों की जीवनियाँ पढ़ी जाती हैं, उनके जीवन से संबंधित घटनाओं पर आधारित सत्संग किया जाता है, उनके रचित भजन गाए जाते हैं, किन्तु ये सब ही भावनात्मक, प्रयत्नपूर्वक अहंकारयुक्त होता है, यह शक्तिपात् नहीं है । शक्तिप्रात् तभी ग्रहण किया जाता है जब गुरु द्वारा किया जाता है । चित्त का अवलम्बन लिया नहीं जाता, दिया जाता है । गुरु की चित्त-शक्ति का अवलम्बन तभी ग्रहण होता है, जब गुरु अपने संकल्प से चित्तशक्ति को प्रसारित करते हैं, यही शक्तिपात् है ।"

मेरा अगला प्रश्न था, "किन्तु लोग तो इन क्रियाओं को पागलपन का दौरा ही कहेंगे?" महाराजश्री का उत्तर था, "लोग तो कहते ही हैं पर यह उनकी अनभिज्ञता है । देखने में क्रियाएँ पागलपन जैसी ही दिखती हैं, किन्तु विचार किया जाए तो बहुत अन्तर है । लोग शरीर को देख सकते हैं, चित्त में नहीं झाँक सकते । वहाँ जो सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, वे उनकी दृष्टि से ओझल रह जाते हैं । जगत् प्रत्यक्ष दृश्य पर आधारित है, तो आध्यात्मिक साधन अदृश्य का विषय है । जगत् तो प्रत्यक्ष के आधार पर ही समझने की चेष्टा करता है । जब समझ नहीं पाता तो पागलपन कह देता है, जबकि यह स्वयं उसका अपना

पागलपन होता है । साधन तथा पागलपन दोनों में होने वाली क्रियाओं में एक समानता है । दोनों का आधार संचित स्मृतियाँ (संस्कार) होती हैं । पागलपन की क्रियाओं में वे क्षीण नहीं होतीं, जबकि साधन में क्षय को प्राप्त हो जाती हैं । पागलपन में बुद्धि आवेशयुक्त हो जाती है, जबकि साधन में स्वस्थ बनी रहती है। पागलपन में अनिष्ट की संभावना है जबकि साधन में ऐसी कोई संभावना नहीं । पागलपन का दौरा समाप्त हुए बिना, पागलपन की क्रियाएँ बन्द नहीं की जा सकतीं, जबकि साधन की क्रियाएँ, इच्छानुसार रोकी जा सकती हैं।''

मैंने फिर प्रश्न किया, ''जब आप नेपाल गए हुए थे, तो एक दिन साधक गुफा में बैठा साधन कर रहा था । उसे जोर-जोर से चिल्लाने की क्रिया हो रही थी । उस समय आश्रम के पिछवाड़े से पुलिस का एक सिपाही जा रहा था । उसने चिल्लाना सुना तो समझा कि कोई किसी को पीट रहा है । वह तार फाँद कर अन्दर आ गया। उसने कड़क कर पूछा कि कौन किस को मार रहा है ? उसे बहुत समझाने का प्रयत्न किया गया पर वह नहीं समझा । बाहर शोर सुनकर वह साधक भी गुफा से बाहर निकल आया । सिपाही ने उसे पूछा कि क्या बात है? चिल्ला क्यों रहे थे? उसने कहा कि वह तो साधन कर रहा था। सिपाही ने कहा कि साधन क्या होता है? तो सब हँसने लगे । साधन में इस प्रकार की समस्या भी खड़ी हो सकती है । घर के दूसरे लोग भी हैं, अड़ौसी-पड़ौसी हैं । मन में कोई कुछ भी सोच सकता है । वे तो यही कहेंगे कि ऐसी कैसी साधना है?''

यह सुनकर महाराजश्री हँस पड़े बोले, '' यह समस्या उन साधकों के सामने अवश्य है जिनको अति उग्र क्रियाएँ होती हैं । कभी-कभी रोकने में भी कुछ कठिनाई होती है । यहाँ आश्रम नगर से बाहर है, साधन के लिए गुफा है, इसलिए यहाँ उन्मुक्त भाव से साधन किया जा सकता है । क्रियाएँ भी खुलकर होती हैं । जहाँ ऐसी सुविधा नहीं, वहाँ क्रियाएँ अपने आप नियंत्रित हो जाती हैं । मन में संकोच के कारण या भय के कारण । अतः घबराने की बात नहीं है । किसी किसी को उग्रवेग होता है तथा वह नियंत्रण से भी बाहर हो सकते हैं । यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए तो वेग को कम करके क्रियाओं का नियंत्रण करना गुरु का कार्य है ।

''हमें वह समय याद आता है जब सन् १९३३ में हमारी दीक्षा हुई थी । यह बात ऋषिकेश की है । उस समय हम भी दीक्षा के संबंध में अधिक कुछ नहीं जानते थे । हमें इतनी उग्र विचित्र क्रियाएँ हुई थीं कि शायद ही किसी अन्य को हुई हों । मेरे देखने में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं आया । कई लोग तो मुझे पागल ही समझते थे । हमने एक कमरा शहर में किराए पर ले लिया था । हमारी क्रियाओं की उग्रता देखकर, मकान-मालिक ने खाली करवा लिया । न

हमें क्रिया को नियंत्रित करने की कोई आवश्यकता थी तथा न ही करने पर भी नियंत्रित होती थीं । अब मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि यदि उस समय क्रिया नियंत्रण में रही होती तो साधन के लिए कहीं अधिक अच्छा होता । अधिक उग्र हो जाना वैसा ही समान है जैसे छलकता हुआ जल पात्र से बाहर गिरता जाए । उग्रता तथा संक्रमण के अनुपात से शक्ति का अपव्यय होता है । क्रियाओं का उग्र होना कोई बुरी बात नहीं है, जैसा चित्त में गुण प्रभावी होगा, वैसी क्रियाएँ होंगी ही, किन्तु नियंत्रण होना भी परम आवश्यक है । जब चाहो क्रिया को रोक सको । इसीलिए साधकों को हमारा निर्देश रहता है कि क्रिया के विकास के साथ-साथ नियंत्रण का भी विकास करो ।'' अब तक हम आश्रम वापिस पहुँच चुके थे अतः बात यहीं समाप्त हो गई।

दूसरे दिन भी घूमते समय वही विषय था, साधन । महाराजश्री कह रहे थे, ''साधन एक ऐसा नशा है जो बिना पीए ही चढ़ा रहता है । साधन एक ऐसा क़ातिल है जो बिना तलवार के ही पापों को काट डालता है । एक ऐसा विष है कि बिना खाए ही, अहंकार की मृत्यु हो जाती है । साधन, मन पर पड़े बोझ को हलका कर देता है, जीवन में खुशियाँ भर देता है तथा मरणशील को अमरत्त्व प्रदान करता है ।''

मैंने कहा, ''महाराज जी ! साधना को साधन क्यों कहा जाता है?''

महाराजश्री ने उत्तर दिया, ''नहीं, साधना को साधना तथा साधन को साधन ही कहा जाता है । साधना को साधन नहीं कहा जाता । साधना, साधना ही है, साधन उससे भिन्न है । हाँ, साधना में स्वाभाविकता आ जाने से, वह साधन हो जाती है। मन को साधने का अभ्यास साधना है । साधना में मन को निर्मल करने का प्रयत्न गौण होता है, क्योंकि अपने प्रयत्न से मन निर्मल हो ही नहीं सकता । साधना में, मलीनता के रहते हुए, मन को विशेष प्रकार की आदत डालने का प्रयत्न किया जाता है । जैसे हम साइकिल चलाने का अभ्यास करते हैं, कुछ दिनों के पश्चात् वह हमारी आदत बन जाती है । इसी प्रकार, मन के विपरीत संस्कारों को दबाकर, कुछ नए प्रकार के संस्कार संचय करके मन के प्रभावी गुण को कुछ समय के लिए ही सही, बदल दिया जाता है । संयम में रहकर मन की संयत अवस्था प्राप्त करने का अभ्यास साधना है। इसकी गिनती आणवोपाय के अन्तर्गत की जाती है । शक्तिहीन, किन्तु अभिमान से ग्रसित जीव अपना प्रयत्न किए जाता है । यही साधना है ।

''यदि साधना आणवोपाय है तो साधन शाक्तोपाय है । इसलिए साधना, जाग्रति से पूर्व साधक का प्रयत्न है, तो साधन, जाग्रति के पश्चात् की स्वयंसिद्ध

साधना । साधना में कर्त्ताभाव है तो साधन में दृष्टाभाव । साधना में कोई ध्येय अभिमुख होता है तो साधन में क्रिया ही ध्येय होती है । साधना प्रयत्न के आश्रित है तो साधन चैतन्य की क्रियाशीलता के । साधन में क्रियाशीलता का आधार संचित संस्कार हैं, जिनके अनुसार ही क्रिया प्रकट होती है । इसीलिए साधन स्वाभाविक कहा गया है । साधना में साधक, किसी विशेष प्रकार का अभ्यास करता है, जिससे उसकी पहचान बनती है, जैसे ध्यान योगी, ज्ञान योगी, त्राटक योगी, भक्त योगी इत्यादि, किन्तु साधन में एक साधक, आन्तरिक संस्कारों के बदलने तथा उसके कारण क्रिया का रूप बदल जाने से कभी हठयोगी, कभी ध्यान योगी, कभी भक्त, कभी उत्कृष्ट गायक इत्यादि होने लगता है । कभी हृदय भाव से भर उठता है, तो कभी अन्तर से ही शंकाओं का समाधान होने लगता है । इस प्रकार प्रयत्न साधक (साधना) तथा समर्पण साधक (साधन) दो श्रेणियाँ बन जाती हैं । साधन में कुछ करना नहीं, केवल देखना है, समर्पण करना है । साधन में कोई इच्छा नहीं, कोई कार्यक्रम नहीं, कोई रुकावट नहीं। साधना यदि अपने बल पर होती है तो साधन भगवद्बल पर । इसलिए साधना की जाती है, साधन होता है ।

"तुम्हारी यह भ्रान्ति ही कही जाएगी जो तुमने साधना तथा साधन को एक ही मान लिया । साधना अपना बोझ उठा कर पैदल चलने के समान है, तो साधन रेलगाड़ी की सवारी, जिसमें सामान भी रख लो तथा स्वयं भी बैठ जाओ, गाड़ी आपको गंतव्य स्थान पर ले जाएगी ।

"साधना अहंकार-अभिमान को बढ़ा सकती है जबकि साधन अभिमान को समाप्त करता है । यह ठीक है कि साधन स्तर के कतिपय साधकों में भी अभिमान की अभिवृद्धि होती देखी जाती है, जिसका अर्थ यह है कि वह साधन का उपयोग भी साधना के रूप में ही करते हैं । नहीं तो साधन करने वाली शक्ति अभिमान से अतीत है । साधक ने अपने साधन तथा अनुभवों का अभिमान किया कि साधन का स्तर, साधना तक नीचे गिर गया ।"

आज घूमने जाने से पहले ही मैं सोचकर आया था कि क्या प्रश्न पूछना है । मैंने पूछा, "महाराज जी, इस साधन के लिए कौन-कौन से उपकरणों की आवश्यकता है?" महाराजश्री बोले, "किसी की भी नहीं । साधना तथा साधन में यही अंतर है । जिसमें उपकरणों की आवश्यकता पड़े वह साधना । अपना तो साधन है, आन्तरिक साधन । अन्तर में ही क्रिया होती है, अन्तर में ही क्रियाशीला शक्ति जाग्रत है, अन्तर में ही लक्ष्य रखा जाता है, अन्तर में ही संस्कार हैं जो आन्तरिक क्रियाओं से क्षीण होते हैं । अन्तर में ही भाव उदय होते है, अन्तर में ही आत्म तत्त्व है । बाह्य जगत् तथा उसका ज्ञान आत्मज्ञान

में व्यवधान रूप है । चित्त अन्तर में ही कार्यशील होकर जगत् ज्ञान प्रकट करता है तथा अन्तर में ही यह ज्ञान विलीन भी होता है । बाह्य सभी उपकरण जगत् का ही अंग हैं । इस साधन के लिए मन का भाव, अन्तर्लक्ष्य तथा समर्पण भाव ही उपकरण कहे जा सकते हैं, जिनका जगत् से कुछ भी संबध नहीं है। जिस प्रकार मन्दिर-प्रवेश से पूर्व ही चप्पल बाहर ही उतार दी जाती है, इसी प्रकार अन्तर साधन की स्थिति में जाने से पूर्व, बाह्य उपकरण बाहर ही छूट जाते हैं ।

"बाह्य उपकरण जब तक रहते हैं, लक्ष्य का आधार भी बाहर ही बना रहता है तथा उसके संस्कार भी संचय होते रहते हैं । अध्यात्म में संस्कारों का संचय नहीं, अपितु क्षय करना होता है । बाह्य उपकरणों का स्वाभाविक त्याग हो जाने पर, जहाँ एक ओर उनके संस्कारों का संचय बन्द हो जाता है, वहीं क्रिया के माध्यम से संस्कार क्षय भी आरम्भ हो जाता है । जब ईश्वरीय शक्ति की क्रिया के रूप में, प्रत्यक्ष कृपा प्राप्ति का अत्यन्त सशक्त अवलम्बन प्राप्त हो जाता है तो अन्य किसी अवलम्बन की आवश्यकता भी क्या है?

"जब बाह्य-उपकरणों के प्रयोग की आदत हो जाती है तो उन्हें छोड़ने में कठिनाई आती है । संत वाणियों में बार-बार उल्लेख किया गया है कि प्रेम गली अत्यन्त सँकड़ी है । उसमें से अकेले निकल पाना भी कठिन है । फिर बाह्य उपकरण, बाहर ही त्यागकर जाना पड़ता है, किन्तु आदत का क्या किया जाय? व्यवधान बनकर खड़ी हो जाती है । माला, बजाने के यंत्र, पूजा की सामग्री, पुस्तक, यहाँ तक कि शरीर तथा मन भी, सभी से ही ऊपर उठना पड़ता है । यहाँ कुछ लादने का प्रश्न नहीं, खाली करने का है ।

"बाह्य उपकरणों की उपयोगिता प्रयत्नपूर्वक साधनाओं में अवश्य है। मन को टिकाने का अभ्यास करने के लिए कुछ आधार चाहिए, किन्तु तुम्हारा प्रश्न अपनी साधन-प्रणाली से संबंधित था। उसी के ही अनुसार मैंने उत्तर भी दिया है।"

एक और प्रश्न मेरे मन में उभरा, "महाराज जी ! दीक्षा देते समय आपने कुछ किया तो है ही नहीं, केवल माथे पर हाथ ही रखा था । माथे पर हाथ कोई भी रख सकता है, किन्तु उससे क्रिया आरम्भ नहीं हो जाती । फिर केवल हाथ रखने में ही इतना अन्तर कैसे हो जाता है?" महाराजश्री ने कहा "हाथ तो कोई भी रख सकता है, पर उसके पीछे की सूक्ष्म क्रिया का अभाव होता है । केवल हाथ रखना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है । उसके पीछे संकल्प भी चाहिए । संकल्प के पीछे जाग्रत शक्ति का बल भी तथा उसके पीछे ही गुरु का आशीर्वाद भी । बिना माथे पर हाथ रखे, दीक्षा हो सकती है । केवल देखने से, केवल मन्त्र से या इनके बिना भी । लोग देखते भी हैं, बोलते भी हैं तथा छूते भी हैं, परन्तु वह परिणाम नहीं आता । जब अपने अन्तर में ही अँधेरा है तो दूसरे में उजाला कैसे

किया जा सकता है? शक्तिपात् अत्यन्त सूक्ष्म प्रक्रिया है, सभी आधार अदृश्य, सभी घटनाएँ गुप्त । सभी कुछ चैतन्य के स्तर पर ही । चैतन्य की क्रिया अवश्य चित्त के आधार पर, जो अपेक्षाकृत स्थूल है, घटित होती है तथा चित्त भाव तथा क्रियाएँ, स्थूल दृश्य पर भी परिलक्षित होती हैं, किन्तु चित्त में स्थान पाने वाले परिणामों को क्योंकर लक्षित किया जा सकता है? जिस पर इसका प्रभाव पड़ता है, वही इसको अनुभव कर सकता है । दीक्षा के समय सभी साधकों की अन्तर्दृष्टि परिपक्व नहीं होती है, इसलिए वे अनुभव करते हुए भी अन्तर्परिणामों को समझ नहीं पाते । दो चैतन्य शक्तियों का मिलन, दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव, शिष्य की शक्ति का अन्तर्मुख होना, गुरु की शक्ति का वापिस आना, यह सब गुप्त अदृश्य रूप से, अत्यन्त ही सूक्ष्म स्तर पर घटित होता है । जड़ जगत्, जो अभी चेतना के स्तर को भी नहीं समझ पाता, चैतन्य, उसकी क्रियाशीलता तथा उसके ज्ञान को कैसे समझ सकता है?"

"अच्छा महाराज जी !" मैंने कहा, "मनुष्य की मुख्य समस्या मन ही है न ?" महाराजश्री बोले, "नहीं, मन समस्या नहीं है, मन के विकार समस्या हैं। जब मन को समस्या बताया जाता है तो उसका अर्थ मन के विकार ही होता है । जब विकार नहीं रहते, तो भी मन रहता है, किन्तु उस समय वह कोई समस्या खड़ी नहीं करता । वास्तव में मन, चैतन्य की चित्त के आधार पर, संकल्प-विकल्पात्मक क्रिया मात्र है। विकार होते हैं तो यह क्रिया भी विकारयुक्त होती है । जब विकार नहीं होते तो यह विकारमुक्त होती है । विकारों का उद्गम वासना है तथा वासना का उद्गम संस्कार। जब तक संस्कार रहेंगे तब तक वासना रहेगी । जब तक वासना है तब तक विकार भी रहेगा तथा तब तक मन भी एक समस्या बना रहेगा । विकारयुक्त मन बंधन है तो विकारमुक्त मन मोक्ष । सामान्यतया मन विकारों से लिपटा ही होता है, इसलिए वही मन का स्वरूप माना जाने लगा है । संत तथा भक्त सभी उसकी निन्दा करने पर तुले बैठे हैं । कोई उसे मारने की बात करता है तो कोई दबाने की । कोई उसे मनाता है तो कोई उसे समझाता है । देखा जाये तो विकारयुक्त मन ही जगत के, महत्त्व को स्थापित करता है, नित्य समझता है, सदैव जीवित रहने की इच्छा करता है, मुक्त नहीं ।

"मन को बड़ा बलवान कहा जाता है अर्थात् उसमें के विकार बड़े बलवान हैं। वे जिधर चाहे मन को मोड़ देते हैं, जो काम करवाना चाहें करवा लेते हैं किन्तु अध्यात्म दृष्टि से देखा जाय तो यही मन की दुर्बलता है । जो नहीं करना चाहिए, कर बैठता है । जो नहीं सोचना चाहिए, सोचता रहता है । यह दुर्बलता ही जीव को विषयों के पीछे भागने पर विवश कर देती है । जीव इतना दुर्बल हो गया है कि मन की विकारयुक्त क्रिया पर उसका कुछ भी अंकुश नहीं

रहा । विकारी मन के इशारे पर वह कठपुतली की तरह नाचता है । यह विवशता उसमें अपने कर्मों के कारण ही आ गई है । आसक्ति, मोह, क्रोध तथा काम के अधीन होकर, उसने उचित-अनुचित का विचार किए बिना, अशुभ कर्मों के संस्कार संचय किए । वे ही संस्कार अब वासना का रूप धारण कर, मन में विकारों का कारण हैं । जीव ने अपने अन्दर संस्कार ही ऐसे संचित कर लिए हैं कि शुभ वासना उदय होने का अवसर ही नहीं आता है । जीव का जीवन वासनामय होकर रह गया है । ऐसा विकारी, चंचल, आसक्त तथा क़ामी, मन के रूप में, जगत् में प्रसिद्धि पा गया है । देखा जाय तो शुभ कर्म भी मन से ही होते हैं । साधन-भजन भी मन से ही होता है, प्रभु प्रेम भी मन में ही उपजता है फिर मन समस्या कैसे हो सकता है ? दोष उनका है जिन्होंने अपने आपको विकारी मन के अधीन कर रखा है, अध्यात्म पथ से मुँह मोड़ रखा है, दोष मन पर मढ़ते हैं ।''

पुराने जमे संस्कार भी कहाँ एकदम पीछा छोड़ते हैं । देवास आने से पहले तक मैं एक भिन्न ही विचारधारा में जी रहा था । वेदान्त को कुछ समझता नहीं था, लेकिन वेदान्ती बनता था, प्रेम तत्त्व को जाने बिना सूफियों में पाँव धरता था । योग में कुछ भी प्रवेश नहीं होने पर भी, अपने आपको योगी समझता था । अभिमान रूपी अपने ही मानसिक लोक में विचरण करता रहता था । पाँव अभिमान रूपी दलदल में धँसे थे, किन्तु मन आकाश में उड़ता था। वेदान्त तथा सूफी मत, एक समान होते हुए भी, दोनों साधन प्रणालियों में क्या अन्तर है, इधर कभी ध्यान ही नहीं गया । फिर सभी मार्गों, योगों, सिद्धान्तों तथा प्रणालियों को एक दूसरे से भिन्न मानता तथा परस्पर तुलना किया करता था । मेरा दृष्टिकोण पूर्णतया तुलनात्मक था, इसके ऊपर अभिमान, फिर तो कहना ही क्या ! एक करेला, दूजे नीम चढ़ा, वाली कहावत का साक्षात उदाहरण था । अपनी बुद्धिमत्ता पर अभिमान पराकाष्ठा पर था । कोई भी साधनक्रम नहीं होने पर भी साधक बनता था । आसक्त होकर भी निरासक्त प्रदर्शित करता था । मेरे अन्दर कुछ था, बाहर कुछ । अपने गुणों पर अभिमान था तथा अवगुणों के प्रति उदासीनता ।

इस समय, मेरी तुलनात्मक वृत्ति प्रबल हो रही थी । सब साधनों को भिन्न-भिन्न देखना, गुण-दोष परखना, अपने मत के प्रति आसक्ति, दूसरों के प्रति अनादर, यह मेरा स्वभाव था, किन्तु जब देवास श्रीचरणों में आया तो मुझे, अपनी सब विचारधारा चरमराती सी दिखाई दी । एक नया मार्ग खुलता सा दिखाई दिया । एक ऐसा मार्ग, जो सभी मार्गों, मतों, सिद्धान्तों को साथ लेकर अपने अन्दर समेट कर चलता है । उसे न भक्तों से द्वेष है, न ज्ञानियों से घृणा । जिस प्रकार सूर्य उच्च पर्वत शिखरों को भी प्रकाशित करता है तथा

गहरी वादियों को भी। उसे किसी से द्वेष नहीं। इसी प्रकार यह मार्ग भी इतना उदार है कि तात्त्विक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक, सभी दृष्टि से, सब मार्गों का आदर करते हुए, अपने से अभिन्न दर्शा देता है, किन्तु विभिन्न साधनों में तुलना करने के मेरे संस्कार इतने दृढ़ थे कि मुझे शक्तिपात् द्वारा शक्ति जाग्रति को एक स्वतंत्र मार्ग मानने पर बाध्य कर रहे थे। मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हो रहा था कि यह नया मार्ग भी, सभी साधनाओं तथा सिद्धान्तों को प्रकाशित करने पर भी उनसे भिन्न है तथा यदि यह भी भिन्न है तो साधनाओं की गिनती में अभिवृद्धि नहीं क्या !

कुछ इसी प्रकार के विचार मेरे अन्तर में उमड़-घुमड़ रहे थे। वैसे देखा जाए तो यह बात कोई बड़ी भी नहीं थी, पर मन है जो उपद्रव किया ही करता है। मैंने अभी कहा ही है कि पुराने जमे संस्कार एकदम से नहीं जाते। मैं एक अजीब सी एक उलझन में पड़ा था। कभी मन कहता कि यह अलग साधन है, कभी कहता, तुम्हें इससे क्या अन्तर पड़ता है, साधन करो। एक ओर महाराजश्री की सशक्त युक्तियाँ, दूसरी ओर प्रत्यक्ष अनुभव, तीसरी ओर पुराने भाव, विचार तथा संस्कार। जैसे भँवर में उलझा जीव वहीं घूमता रहता है, वैसे ही मैं भी इस उलझन से निकल नहीं पा रहा था। महाराजश्री पर श्रद्धा स्थापित हो चुकी थी, उनकी बातें हृदय को छूती थीं, उन पर विश्वास करने के अतिरिक्त मार्ग नहीं था। पर अतीत की स्मृतियाँ राह रोके खड़ी थीं। अपने मन को बहुत समझाया कि यह साधन स्वतंत्र, अलग है या नहीं, यह विवाद निरर्थक है, पर मन नहीं माना। अन्त में महाराजश्री के सम्मुख ही समस्या प्रस्तुत करने का निर्णय किया। महाराजश्री का बात समझाने का ढंग एकदम वैज्ञानिक, तर्कसंगत तथा सीधे हृदय में जाकर प्रविष्ट हो जाने का था। उनका निशाना अचूक था। वह प्रश्नकर्त्ता की समस्या तथा उलझन को भलीभाँति समझते थे।

दूसरे दिन घूमते समय मैंने महाराजश्री के समक्ष मन की बात इस तरह रखी, "अभी तक मैंने ज्ञानियों को भक्तों की खिल्ली उड़ाते देखा है। भक्त, ज्ञानियों को प्रेमविहीन शुष्क वाचक ज्ञानी कहते हैं, योगी योग को एकमात्र उपाय बताते हैं तथा कर्मयोगी कर्म करने को ही भगवान की पूजा मानते हैं। सब एक दूसरे से वाद-विवाद करते, अपने मार्ग का मण्डन तथा दूसरे का खण्डन करते देखे जा सकते हैं। आध्यात्मिकता वाद-विवाद का एक विशाल अखाड़ा सा ही दिखाई देती है। मैं भी अपने मत तथा विचार को ही उच्चतम, उपयुक्ततम तथा तर्कसंगत मानता था। मैं अपने विचार को परिपक्व तो नहीं कह सकता, फिर भी उस की जड़ें काफी गहरी हैं, किन्तु आपने सभी साधनाओं के ऊपर शक्ति जाग्रति का एक और साधन बिठाया है। क्या यह साधन, उन सभी साधनाओं से भिन्न तथा अलग है? यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही। आपकी बात पर तो अविश्वास का प्रश्न ही नहीं है। पर अतीत पीछा नहीं छोड़ रहा है।"

महाराजश्री मुस्कराए, कहने लगे-''इसका अर्थ यह हुआ कि अभी तक भी साधना तथा साधन के अन्तर को समझ नहीं पाए। हमने न तो किसी साधना को गलत कहा है, न ही छोटा या बड़ा तथा न ही किसी भी साधन से किसी की तुलना ही की है। केवल साधना के स्तर की ही बात कही है। एक ही प्रकार की साधना का अभ्यास करने वाले विभिन्न साधकों का साधना स्तर भिन्न हो सकता है। एक ऐसा स्तर भी आ सकता है जब साधना अपना स्वरूप त्यागकर साधन हो जाती है। तब उसमें स्वाभाविकता आ जाती है। ऐसा शक्ति जाग्रत हुए बिना संभव नहीं, क्योंकि तभी साधना का आधार प्रयत्न से ऊपर उठकर, चित्तस्थिति के अनुरूप प्रकट होने लगता है। इस स्वाभाविक प्रकटीकरण को ही क्रिया कहा जाता है। यही साधन है। प्रयत्न के स्थान पर स्वाभाविकता, बस यही अन्तर आ जाता है। जब आधार चित्तस्थिति हो जाता है तो उसके अनुरूप अन्य साधनाओं की क्रियाएँ भी प्रकट होने लगती हैं, जिससे साधनाओं तथा मार्गों का विवाद समाप्त हो जाता है।

''अधिकांशत: अपने आपको साधक समझने वाले लोग साधक होते ही नहीं, क्योंकि उनमें अन्य साधनाओं के प्रति आदर भाव नहीं होता। उदारता अपनाए बिना, समन्वय के अभाव में, आसक्ति नाश की ओर साधक अग्रसर नहीं हो पाता। यदि एक विषय में राग है, तो अन्य विषयों में भी होगा तथा कुछ विषयों में द्वेष भी अवश्य होगा। ऐसे ही तथाकथित साधक, अपनी साधन-शैली के प्रति आसक्त होने से वाद-विवाद में उलझते हैं, उसे ही एकमात्र उपाय निरूपित करते हैं एवं उसी में लगे रहकर आसक्ति को पुष्ट करते रहते हैं।

''शक्ति जाग्रति का साधन, कोई अलग साधन नहीं है, इसमें भी वही भक्ति, ज्ञान, योग की क्रियाएँ हैं, वही भाव तथा विचार है, केवल अनुभव के स्तर का अन्तर है। चलना एक समान ही है, किन्तु कोई घर से दूर जाने की यात्रा करता है, कोई लौटने की, तो कोई घर के अन्दर चलता है।

''जीव के अन्दर बैठा अहम् किसी भी अवस्था में उसका पीछा नहीं छोड़ता। कहने को वह अभिमानरहित बनता है, पर यह केवल उसका दिखावा ही होता है। शक्ति जाग्रति के उपरान्त ही अहम् गलित होने की प्रक्रिया आरम्भ होती है।

''जिस प्रकार कोई बम्बई से चलता है, कोई मद्रास से तथा कोई कलकत्ता से, कोई बैलगाड़ी से चलता है, कोई ट्रेन से तथा कोई हवाई जहाज से, कोई रास्ते में ठहरता हुआ चलता है, तो कोई बिना रास्ते में रुके सीधा ही, किन्तु जाना सबको दिल्ली ही है। उसी प्रकार कोई भी हो, कहीं से भी आरम्भ की जाए तथा उन्नति की गति भी तीव्र, मध्य अथवा मन्द हो, लक्ष्य एक ही है शक्ति की जाग्रति। यहाँ आकर साधक का साधना स्तर परिवर्तित होकर साधन हो जाता है। उसे कोई नई साधना नहीं मिल जाती, केवल स्वाभाविकता ही

प्रकट हो जाती है। हाँ, नए-नए अनुभव होने लगते हैं, जिससे साधन में नएपन की भ्रान्ति होती है। अभिमान द्रष्टाभाव में बदल जाता है, इसलिए भी साधन नया प्रतीत होता है। साधन एक ही है, आत्म स्थिति की ओर यात्रा। सभी साधक इसी पथ के पथिक हैं, एक ही लक्ष्य की ओर जा रहे हैं, किन्तु यात्रा के अनुभव सबके अपने-अपने हैं। इसी अनुभव भेद के आधार पर कई साधनाओं, मतों तथा सम्प्रदायों की कल्पना करना विद्वानों का काम है तथा उनके अनुयायी, उन मार्गों के प्रति आसक्त होकर, परस्पर वाद-विवाद करते हैं। साधक के पास वाद-विवाद के लिए समय नहीं होता, वह इसे अनावश्यक बौद्धिक व्यायाम मानता है जिस में समय व्यर्थ नष्ट करने के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता।

"शक्ति जाग्रति भी, मार्ग का एक पड़ाव ही है, गंतव्य नहीं। साधन है, साध्य नहीं। आरम्भ है, अन्त नहीं। जाग्रति नहीं तो समझो अभी साधन का आरम्भ ही नहीं हुआ। अभी बाहर-बाहर ही भटक रहे हैं, घर का द्वार अभी खुला नहीं, प्रवेश हुआ नहीं। यदि साधक, साधना को, अपनी यात्रा का आरम्भ मान लेता है तो यह उस का अभिमान ही है। घर में प्रवेश पाए बिना कोई घर में कैसे बैठेगा। जाग्रति से साधना में सहजता से वह साधन हो जाती है, आनन्द आने लगता है, तथा संस्कारों के क्षय होते जाने से, नई-नई साधनाएँ या अनुभव घटित होते जाते हैं। ये ही अनुभूतियाँ हैं।

साधना तथा साधन, पहाड़ी पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों के समान हैं। साधना की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते अकस्मात् शक्तिजाग्रति की सीढ़ी आ जाती है, साधना साधन हो जाती है, स्तर बदल जाता है। पहाड़ी वही है, सीढ़ियाँ भी वही हैं तथा यात्री भी वही, किन्तु माध्यम का रूप परिवर्तित हो जाता है। जैसे-जैसे यात्री ऊपर चढ़ता जाता है, आस-पास का दृश्य परिवर्तित होता जाता है, जो स्थान पहले उसे बहुत ऊँचे दिखाई देते थे, अब नीचे दिखने लगते हैं। पहले आस-पास का दृश्य ही दिखाई देता था, अब दृष्टि दूर तक जाने लग गई है। यही अनुभव परिवर्तन है। क्या मार्ग बदल गया या यात्री? कुछ भी नहीं। केवल स्तर का परिवर्तन हो गया।"

मैंने नई शंका व्यक्त की, "क्या जाग्रति के बिना साधन संभव नहीं?" महाराजश्री बोले, "अरे भई, जब तक घर की ओर गतिशीलता नहीं होगी, घर में प्रवेश कैसे करोगे? तथा घर में भी अन्तिम छोर तक कैसे जाओगे? हम जानते हैं कि कुछ लोग इस प्रकार की बातें करते हैं कि यह शक्ति जाग्रति क्या है? तुम एक बात समझो। जगत् का अस्तित्व आप के लिए कब है? जब आपकी अन्तर शक्ति, आपकी इन्द्रियों के आधार पर बहिर्मुख प्रवाहित होती है। जगत् के संपर्क में आती है तथा जगत् का ज्ञान प्राप्त करती है।

''जीव इस जगत्–ज्ञान में ही इतना रम जाता है कि अपने आपको ही भूल बैठता है। इसीलिए जगत् के ज्ञान को बंधन का कारण कहा गया है। अब यदि कोई चाहे कि जगत् का ज्ञान विलीन हो जाये, तो शक्ति को अपना प्रसार समेटते हुए वापिस लौटना होगा। वापिस लौटने का आरम्भ होना ही जाग्रति कहा जाता है। यह संभव है कि कोई साधक कुछ समय के लिए इसे अनुभव न कर पाए, किन्तु जाग्रति है अवश्य।

''शक्ति का आन्दोलन जगत् है तो उसकी आन्दोलन रहित अवस्था जगत् का विलीनीकरण। इस प्रकार, वैयक्तिक स्तर पर, जिसका चित्त जितना अधिक आन्दोलित है, उसके लिए जगत् का अस्तित्व तथा महत्त्व उतना ही अधिक है। शक्ति की आन्दोलनरहित अवस्था का बढ़ना आरम्भ होना ही जाग्रति है। इसके बिना आध्यात्मिकता में प्रवेश काहे का?''

मेरा अगला प्रश्न था, ''क्या कभी ऐसा भी समय आ सकता है जब शक्ति पूर्णतया आन्दोलनरहित हो जाए?'' महाराजश्री बोले, ''तुम्हारा यह प्रश्न विशुद्ध बौद्धिक है। अभी तुम्हारी चित्त स्थिति इस प्रश्न के लिए अनुकूल नही है। आध्यात्मिक साधना में इसी को अधिकार कहा गया है। आजकल न तो प्रश्नकर्ता ही आपने अधिकार पर विचार करता है तथा न ही वक्ता अधिकार निर्णय करता है। प्रश्नकर्ता, किसी प्रकार की साधना किए बिना ही, जल्दी से जल्दी सब कुछ जान लेना चाहता है तथा वक्ता भी, अपनी विद्वत्ता की धाक जमाना चाहता है। तुमने प्रश्न किया है तो मैं उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा पर अभी तुम इसके अधिकारी नहीं हो। ये सब तुम्हारी काल्पनिक उड़ानें ही हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हें समझ नहीं आएगी, सब ऊपर ऊपर से निकल जाएगा।

''इसका ठीक–ठीक उत्तर केवल भगवान ही जानते हैं, किन्तु जो कुछ शास्त्रों तथा संतवाणियों से समझा है, उसके आधार पर कहता हूँ कि सृष्टि का विस्तार अपार है। हमारे जैसे अनेकानेक सौर मण्डल हैं जिसमें चैतन्य का आन्दोलन नित्य प्रति गतिशील रहता है। जिस प्रकार रात को तारे जगमगाते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टियों का उदयास्त भी निरन्तर होता रहता है। प्रत्येक आंदोलन के उठने पर अनेक सृष्टियों का प्रकटीकरण तथा प्रत्येक आन्दोलन के बैठने पर, अनेक सृष्टियों का विलीनीकरण हो जाता है। एक ही क्षण में अनेक आंदोलन उठते हैं तो अनेक आंदोलन विलीन भी हो जाते हैं। यह कह पाना बड़ा कठिन है कि ऐसा समय भी कभी होता है जब सभी आन्दोलन केवल विलीन हो जाएँ तथा कोई भी उदय न हो। तब कहीं भी, किसी सृष्टी का अस्तित्व नहीं होगा। इन बातों को महापुरूषों ने ध्यान की अवस्था में अनुभव किया तथा अपरम्पार सृष्टि की रचनाओं को देखकर चकित रह गए। सृष्टियों के उदयास्त की निरन्तर एक धरा सी प्रवाहित हो रही है। जिसने भगवान की उस अनुपम लीला को देखा हैं,

उसके लिए दृश्यमान जगत्, अत्यन्त ही तुच्छ एवं महत्त्वहीन जैसा होता है । उसे अपने अभिमान का खोखलापन उजागर हो जाता है ।

"यदि अनन्त सृष्टियों को एक इकाई के रूप में लिया जाये तो यह नहीं कहा जा सकता कि शक्ति कभी पूर्णतया आंदोलन रहित होती है या नहीं । यह देखने का किसी के भी पास कोई यन्त्र नहीं कि कब कहाँ आन्दोलन घटित हो रहा है तथा अघटित । एक क्षण के लिये ऐसा मान भी लिया जाये कि कोई ऐसा क्षण होता है जिसमें चैतन्य का आन्दोलन पूर्णतया थम जाता है, तो उसको देखेगा कौन? क्योंकि तब सभी सृष्टियों का विलीनीकरण हो जाएगा । इसीलिए कहा जाता है कि भगवान का भेद भगवान ही जानते हैं । मनुष्य अभिमान के कारण, इस तथ्य को अस्वीकार करता तथा भेद जानने का प्रयत्न करता, कल्पनाएँ करता तथा अनुमान लगाता है, पर प्रभु भेद किसने जाना?

"यदि एक सृष्टि को एक इकाई के रूप में लें, तो अवश्य कुछ कल्पना हो सकती है । जिन लोगों को प्रत्यक्ष अनुभव की क्षमता नहीं है, उनके लिए शास्त्र, संतवाणी ही एकमात्र आधार हैं । उसी के माध्यम से कुछ कल्पना की जा सकती है या अनुमान लगाया जा सकता है । हमारी सृष्टि किसी समय प्रलय को प्राप्त हो जाती है । एक-एक करके, सभी तत्त्व उलट क्रम से विलीन होते जाते हैं तथा अन्त में प्रकृति अपने मूल में विलीन हो जाती है । जब सृष्टि ही नहीं रही तो जीव कहाँ रहेंगे । उनके शरीर भी सृष्टि का ही अंग हैं । तब न कोई दिखने वाला, न ही देखने वाला । अर्थात् चैतन्य का एक आंदोलन पूर्णतया विलीन हो जाता है, पर आन्दोलित होने का गुण कभी विलीन नहीं होता । पुनः आन्दोलन होता है, पुनः सृष्टि अस्तित्त्व में आती है या अस्तित्त्व में भासित होती है । इसका प्रत्यक्ष अनुभव किसी को ही होता है, अधिकांश तो तर्क के सहारे ही चलते हैं ।

"तीसरी इकाई जीव है जो अपने अन्तर में एक लघु ब्रह्माण्ड का ही रूप है । इसको व्यष्टि स्तर कहा जाता है । जीव के शरीर में जड़-चेतन का संयोग होता है । उसमें अहंकार होता है जो अपने आपको छोटा मानने से इन्कार करता है । जीव में अन्तः करण के रूप में, एक अन्तर्जगत् भी होता है जिसमें उसके शुभाशुभ कर्मों की स्मृतियाँ संचित रहती हैं । उस का शरीर प्रकट होता है, विलीन हो जाता है । स्मृतियों के अनुसार वह कभी प्रकट कभी अप्रकट होता रहता है । इस प्रकार एक ही सृष्टि की अवधि में अनेक बार जन्मता व मरता है । यदि कभी उस को सद्बुद्धि आ जाए तथा सेवा साधन में लग जाए तो जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त कर, चैतन्य में विलीन हो सकता है । जड़-चेतन का संयोग टूट जाता है, चैतन्य का आन्दोलन एक बिन्दु पर विलीन हो जाता है । जीव का लक्ष्य वैयक्तिक स्तर पर ही चैतन्य का आन्दोलन विलीन

करना होता है, समाष्टि स्तर पर नहीं, न ही उस स्तर पर वह कुछ कर ही सकता है। ईश्वर के कार्यो में हस्तक्षेप का उसे अधिकार ही नही ।''

मैंने कहा, ''महाराज जी, मेरे लिये सब विचारधारा एकदम नयी है। अभी तक मैं वेदान्त का केवल सिद्धान्त पक्ष ही पढ़ता तथा अपने आपको ज्ञानी माने बैठा था । साधन–पक्ष के रहस्य अब आपकी कृपा से खुलने लगे हैं। अद्वैत को साधन में कैसे उतारना, इस पर कभी विचार ही नहीं किया । अद्वैत की मान्यता तथा अद्वैत अनुभव, निश्चित ही दो अलग बातें हैं। सामान्यत: तो लोग सिद्धान्त पक्ष ही पढ़ते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि वे भूमि पर विचरण करते हैं, किन्तु आकाश में उड़ते हैं ।''

अभी थोड़े ही दिन हुए थे, किन्तु मेरा विचार परिवर्तन होने लग गया था । महाराजश्री का व्यक्तित्व मेरे अभिमुख था ! कहाँ तो मैं कभी गुरू की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करता था और कहाँ अब गुरु को अनिवार्य समझने लगा था । यही तो गुरुकृपा है। मुझे नांगल के उन दिनों की याद आ गई जब वहाँ के बाबाजी के कहने पर, सर्व प्रथम मुझ में गुरु के प्रति जिज्ञासा जाग्रत हुई थी । तब मैं कितने महात्माओं के द्वार पर गया था, किन्तु सभी जबानी जमा खर्च करने वाले, बात– बात में अभिमान का प्रदर्शन, क्रोध के लिए हर समय तत्पर, न नम्रता, न दया, न दृष्टि की सूक्ष्मता । एक बार एक महात्मा मेरे मन को भा गए । उनेक व्यक्तित्व तथा विद्वत्ता में साधना की झलक थी । रात को विचार किया तो मन में बार– बार यही आया कि यह महात्मा तो अच्छे है पर यह तुम्हारे गुरू नहीं । आज मैं एक ऐसे महापुरुष के पास था जिनके चरणों में रहकर मुझे पूरी तरह संतुष्टि थी ।

रात को नींद नहीं आई । मैं अतीत की स्मृतियों मे खो गया । देवास आने से पूर्व, नांगल में लोग मुझे जितना भक्त समझते थे, उससे भी मैं अपने आपको बड़ा भक्त मानता था । यदि कोई कीर्तन में मुझे अपने घर बुलाता था तो कितनी उत्सुकता से बैठा करता था । अपनी प्रशंसा सुनकर मन ही मन प्रसन्न होता था । गुरु महाराज के व्यक्तित्व को देखा तो सारा नशा हिरण हो गया। वह नम्रता, सादगी, आडम्बरहीनता, दया मैने जीवन में किसी में देखी नहीं थी । उस पर साधन की इतनी बारीकियाँ तथा अनुभव, और फिर ऐसी विद्वत्ता । जगत् में पूर्ण पुरुष, ईश्वर को छोड़कर दूसरा नहीं, किन्तु पूर्णता के समीप जितना महाराजश्री को देख रहा था, ऐसा दूसरा नजर नहीं आता था ।

फिर मुझे वह दिन याद आ गया जब एक बार मैं नांगल में, सतलज के किनारे अपनी कुटिया में बैठा पढ़ रहा था । मुझे कुछ तन्द्रा सी आ गई थी । स्वप्न में एक भगवा वस्त्रधारी महाराज के दर्शन हुए थे । मैं पास ही बैठा था

कि इतने में एक व्यक्ति दूध का एक गिलास ले आया । उन महात्मा ने आधा दूध पिया, फिर मुझको कहा कि बाकी का दूध तुम पी लो । मैं पी गया । सायंकाल को एक सज्जन महाराजश्री की लिखी पुस्तक 'देवात्म शक्ति' ले आया जिसमें महाराजश्री का एक चित्र भी था । देखते ही मैं पहचान गया कि इन्हीं महात्मा के, आज स्वप्न में दर्शन हुए थे।

सुनते हैं कि स्वप्न का संबंध पूर्व संचित संस्कारों से होता है । संस्कार ही उदय होकर, चित्त में चित्रित होकर, स्वप्न सृष्टि का निर्माण करते हैं । तो क्या महाराजश्री से संबंधित मेरे पूर्व जन्मों के कुछ संस्कार हैं ? क्या पूर्व में भी वह किसी जन्म में मेरे गुरु रह चुके हैं ? ऐसे महापुरुष की कृपा पाकर भी, मेरे मन के विचार अभी तक शान्त क्यों नहीं हुए ! अभी तक मन मुझे कितना परेशान करता है । मैंने स्वप्न के अतिरिक्त महाराजश्री के दर्शन नहीं किए थे, किन्तु फिर भी मेरा मन उनके चरणों की ओर आकृष्ट हो रहा था, अतः पत्र व्यवहार आरम्भ हो गया ।

अब मुझे अपने विकारों के प्रति ग्लानि हो रही थी, मेरे विचार चल रहे थे, मन उद्वेलित हो उठा था । सभी विकारों का मूल कारण अभिमान ही है, उसे कुचलना होगा । इसके लिए आवश्यक है कि जगत् आपका तिरस्कार करे, आप पर अत्याचार करे, अपमानित करे, जगत् में आपका अपयश फैले, तभी तो अभिमान को ठोकर लगेगी, इसके लिए कितनी सहनशीलता की आवश्यकता है । जब किसी के अभिमान पर आघात होता है तो कैसे तिलमिला उठता है। किंवदन्ति है कि जब कबीर का यश फैला, तो उनमें अभिमान जाग्रत हो गया, किन्तु शीघ्र ही सँभल गए, तथा एक वैश्या का हाथ अपने हाथ में लेकर, बाजार से निकल गए । लोग अवाक् रह गए, थू-थू कर उठे, अपयश फैल गया, कबीर का अभिमान समाप्त । केवल बातों से ही अध्यात्म नहीं सध जाता। हँसते-हँसते जान पर खेल जाने के लिए तैयार रहना पड़ता है, फिर भी मुँह से उफ तक नहीं निकले, सबका मंगल चाहे, सब से प्रेम करे, आदर करे। यही प्रेमियों का मार्ग है ।

प्रातःकाल भ्रमण के समय मैंने बात आरम्भ की, "महाराज जी, अध्यात्म बड़ा कठिन है । कितना कुछ सहन करना पड़ता है, अहम कितना परेशान करता है । लोग तो आरामकुर्सी पर बैठकर साध लेना चाहते हैं । बैंक बैलेंस भरपूर हो, सब प्रकार की सुविधा-अनुकूलता हो, अध्यात्म की केवल चर्चा भर ही करना हो, तो ही इसमें रुचि लेते हैं । अहम् पर तनिक भी चोट सहन नहीं कर पाते ।"

महाराजश्री बोले, " हाँ भई, आज के युग में अध्यात्म का यही हाल है। सब क्रोध, अभिमान में मरे जा रहे हैं । खाने को स्वादिष्ट भोजन चाहिए, सब

प्रकार का आराम, सुविधा चाहिए। सर्वप्रथम तो सेवा करना ही नहीं चाहते, यदि कुछ करते भी हैं तो अभिमान को और अधिक बढ़ा लेते हैं। हम सेवक हैं, हमको आदर मिलना चाहिए। कोई दूसरा सेवक हुआ तो राग-द्वेष शुरू। बुद्धिवाद का सहारा लेते हैं, कूटनीति चलाते हैं, ऐसे में अध्यात्म कैसे फलीभूत हो सकता है ! अध्यात्म अपने आप को जलाने का नाम है। वासनाओं-कामनाओं को जलाना, विकारों-अवगुणों को जलाना, राग-द्वेष को जलाना, यहाँ तक कि अहम् को ही जला डालना, शून्य हो जाना। तभी प्रकाश फैलेगा, तभी सुगंध फैलेगी। जब तक मन की घिसाई नहीं होगी, निर्मल कैसे होगा?

"पर क्या किया जा सकता है? युग ही ऐसा है। लोग मन के हाथों मजबूर हैं। यह नहीं कि सब अध्यात्म तथा धर्म के विरोधी हैं, बहुत सारे ऐसे हैं, जो सब समझते हैं, करना भी चाहते हैं, पर कर नहीं पाते। विकारों में जकड़े हुए हैं। विषयों का आकर्षण बहुत तीव्र है, जगत् में सब ओर फिसलन है। सँभल कर चलते हैं, फिर भी फिसल ही जाते हैं, किन्तु साधकों को चिन्ता का कोई कारण नहीं है। ऐसे में ही साधन अच्छा हो सकता है। सभी ओर से जगत् खींच रहा हो, फिर भी साधक साधन में रत हो यही तो आनन्द है। ऐसा साधन ही फलदायी होता है।"

मैं ने फिर कहा, "किन्तु भक्ति मार्ग के प्रचारक भक्ति को बहुत सरल कहकर प्रचारित करते हैं। संतों ने भी भक्ति को सरल कहा है !" महाराजश्री बोले, " भक्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए ऐसा कहते हैं। नहीं तो तुकाराम, नामदेव, ज्ञानेश्वर से पूछो, नरसी मेहता, कबीर या मीराबाई से पूछो, जिन्होंने भक्ति को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया। कितने कष्ट उठाए हैं, इन सब ने। कितनी विघ्न बाधाओं को पार करना पड़ा है। अपमान के कितने घूँट पीने पड़े हैं। फिर भी इन महापुरुषों के मुख से कभी भी, शिकायत का एक शब्द नहीं निकला। जगत् ने चाहे उनके मार्ग में कितने ही काँटे क्यों न बिखेरे हों, किन्तु उन्होंने कभी किसी के लिये अपमानजनक शब्द नहीं कहे। तथाकथित शत्रुओं तथा विरोधियों का भी आदर किया, प्रेम किया। क्या इस कार्य को सरल कहा जा सकता है? भक्ति हो या ज्ञानयोग, वैराग्य सबके लिए आवश्यक है, तथा वैराग्यधारण करना सरल कार्य नहीं।

"एक बात और भी है। नास्तिकों ने इन्हें दुख नहीं दिया। पूजा-पाठ करने वाले, शास्त्र के ज्ञान तथा योग-ध्यान करने वाले, चोटी तथा तिलकधारी, धर्म के ठेकेदारों से ही उन्हें कष्ट भोगना पड़ा। महाराजा हरिश्चन्द्र को किसने परेशान किया? परमतपस्वी महर्षि विश्वामित्र ने। यह कैसी विश्व की मित्रता है! किन्तु उन महापुरुषों ने आह तक नहीं की। कितना अन्दर ही अन्दर सहन

करना पड़ा होगा । अध्यात्म की कोई भी शाखा हो, सिद्धान्त नियम कुछ भी हो, साधना पद्धति कैसी भी हो, क्रियान्वित करना सरल नहीं । पग-पग पर कठिनाइयाँ, समस्याएँ क्लेश आकर मार्ग अवरुद्ध कर देते है । क्योंकि सभी में एक बात समान है, अन्तर को शुद्ध करना, अन्दर गन्दगी जमा करने से बचना तथा प्रभु की मौज के अनुरूप चलना । यह प्रवाह जगत् प्रवाह से विपरीत है। कुछ संचय नहीं करना, त्यागना है । अन्दर राग-द्वेष नहीं भरना, प्रेम प्रकाशित करना। जगत् में रहकर, जगत् से विपरीत चलना, क्या सरल कहा जा सकता है?''

मैंने डरते-डरते पूछा,''महाराज जी पूछना तो नहीं चाहिए पर मुँह पर बात आ गई है । क्या आपको भी विघ्नों का सामना करना पड़ा है?'' महाराजश्री बोले, ''हाँ, मैंने भी बहुत विघ्नों तथा कठिनाइयों का सामना किया है, कई बाधाओं में से होकर निकला हूँ मैं । जगत् के विघ्न तो हैं ही, देवताओं द्वारा डाले जानें वाले विघ्न तो कहीं अधिक भयानक हैं । सामान्य साधक उस स्तर तक उठा हुआ नहीं होता, इसलिये देवताओं के विघ्न उसके समक्ष नहीं आते । जगत् का सौन्दर्य उसके सामने कोई महत्त्व नहीं रखता, किन्तु सामान्य साधक उन्हीं के सामने ढेर हो जाता है । विघ्नों को यदि विस्तार से समझा जाए तो साधक को सीखने को बहुत कुछ मिल सकता है, किन्तु शिष्यगण इस बात की कल्पना ही नहीं करना चाहते कि उनके गुरू महाराज के सामने भी कोई विघ्न आ सकता है, पर यह बात उनके हित में नहीं है । यदि वे देखें कि हमने बाधाओं को कैसे पार किया तो उनको भी कुछ प्रेरणा प्राप्त हो। विघ्नों का सामना करने के लिए सहनशीलता की अत्यन्त आवश्यकता है। गुरू के प्रति समर्पण की आवश्यकता है और आवश्यकता है निरन्तर साधन की ।

''विघ्न तो जीवन के हर क्षेत्र में आते हैं, किन्तु साधकों को कुछ अधिक ही आते हैं । साधन मार्ग के नियम ही ऐसे हैं । साधक सुविधाओं का उपभोग तो करता नहीं, किन्तु अभाव झेलने पड़ते हैं, दुःख सहन करने पड़ते हैं, समस्याओं से जूझना पड़ता है । साधक सम्मान को नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देता है, किन्तु अपमान के घूंट पीने पड़ते हैं । शक्ति जाग्रत होने के उपरान्त, संस्कार शीघ्रतापूर्वक उभरने तथा उदार होने लगते हैं, इसलिए सुख-दुःख भी शीघ्रतापूर्वक आते हैं । दुःख झेलने पड़ते हैं, किन्तु वह सुखों का उपभोग नहीं करता ।

''इसी जगत् में साधक को भी जीवन व्यतीत करना होता है । जगत् तथा साधक के भाव, विचार तथा दृष्टिकोण में कहीं समानता नहीं होती । साधक के हर काम को जगत् अपने दृष्टिकोण से परखता है । सारा जगत् मिलकर, एक साधक में दोष निकालता है, किन्तु साधक को किसी में दोष दिखाई नहीं देता, देता भी है तो अनदेखा कर देता है, प्रचारित नहीं करता । इस तरह साधक जगत् का अपमानपूर्ण व्यवहार सहन करता रहता है, किन्तु वह जगत् की इस

उछलकूद को एक खेल समझता है, मुस्कराता है, पर जगत् की ठोकरें तो खाता ही रहता है । जगत् के द्वारा दिया गया दुःख, अपमानजनक व्यवहार, उस पर लगाए गए आक्षेपों को सहन करना, साधन का ही अंग है जो चित्त का सारा कचरा बाहर निकाल देता है । न जाने कौन-कौन से जन्म के संस्कार फल देने के लिए खड़े हो जाते हैं । साधक भी विघ्नों, बाधाओं से विक्षिप्त नहीं होता, उन्हें आमन्त्रित करता है कि आओ, अपना करतब दिखाकर समाप्त हो जाओ । संसारी दुःखों से बचता फिरता है, जंत्र-मंत्र का सहारा लेता है । साधक तथा संसारी में यही अन्तर है ।

''यह तो हुई बात जगत् के विघ्नों की, अब अन्तर के विघ्नों को लेते हैं। बाहर के विघ्न भी वास्तव में आन्तरिक विघ्नों का ही बाह्य प्रकटीकरण हैं । अन्तर में संस्कारों के आधार पर, कई प्रकार की वासनाएँ विकसित हो जाती हैं जो मनुष्य को विषयों की ओर प्रेरित करती रहती हैं । यह प्रेरणा ही अन्तर्विघ्न हैं । काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ अन्तर वासना के ही विभिन्न परिणाम हैं । वासना जीव को भ्रमाती, नचाती, घुमाती है । वासना के आवेश में जीव अंधा, अविवेकी एवं क्रूर हो जाता है । वह श्रेय का मार्ग छोड़कर प्रेय के पीछे ही भागा फिरता है। यदि कोई उसे श्रेय की बात समझाता भी है, तो वासना हृदय को ग्रहण करने से रोकती है । यह वासना ही विघ्न है जिसकी आग में सारा संसार जल रहा है, जो विभिन्न रूपों में मन में प्रकट होकर, कभी जीव को लुभाती है तो कभी फँसाती है। सामान्य मनुष्यों की वासना अशुभ होती है, इसलिए प्रायः वासना का अर्थ अशुभ वासना के रूप में ही लिया जाता है। वासना एक ऐसी अग्नि है जो दिखती नहीं पर जलाती है । वासना एक ऐसा प्रवाह है जिससे कोई भी बच नहीं पाया । वासना एक ऐसा वन है जो अत्यन्त रमणीय जान पड़ता है पर जिसमें जान को संकट है । अधिक क्या कहें वासना एक ऐसी भूल-भूलैया है जिसमें कोई एक बार भटक गया, फिर निकल न पाया । साधक इस अन्तर विघ्नदात्री वासना से सदैव ही सजग रहता है । उसे वासना के आक्रमण की पूर्व सूचना विवेक देता है । वह वासना तथा उसकी क्रियाओं को दूर खड़े होकर देखता है । जिस प्रकार दृष्टा के रूप में हम नाटक से अलग होते हैं । आक्रमण आता है, अपना जोर दिखाता है, चला जाता है । साधक द्रष्टा बना देखता रहता है । जो यह नहीं कर पाए, वह साधक नहीं है ।''

मैंने पूछा, ''ऐसा लगता है कि अध्यात्म तथा साधन-पथ में संस्कारों तथा व्यवहार के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ।'' महाराजश्री ने कहा, ''वास्तव में तो संस्कार तथा व्यवहार शुद्धि ही अध्यात्म की मुख्य समस्या है । वैसे चित्त में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश, ये पंच क्लेश और हैं जो संस्कारों के संचय में सहायक होते हैं तथा संस्कार जिन्हें अधिकाधिक पुष्ट

करते हैं, किन्तु साधनपथ की दिशा में मुड़ते ही साधक का, संस्कारों से ही वास्ता पड़ता है । संस्कार ही वासना वृत्ति का कारण हैं । संस्कार ही प्रारब्ध निर्माण करते तथा जीवन को दिशा निर्देशन देते हैं । संस्कार ही व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं । संस्कारों की दलदल से बाहर निकलना ही अध्यात्म है ।

"अध्यात्म का लक्ष्य तो आत्मस्थिति है, पर साधन की बात आने पर संस्कार मुख्य हो जाते हैं । संस्कारों ने ही संचित होकर आत्म को ढँक लिया है । संस्कार ही परे हट कर आत्म-प्रकाश को उजागर कर देते हैं । संस्कार ही संचित होकर जग-बंधन हैं तथा क्षय होने पर मुक्ति प्रदाता । संस्कार ही मन का रूप धर कर जीव को नचाते हैं, वासना बन कर कामनाएँ उछालते हैं, विषय बनकर जीव को भ्रमाते हैं, कभी हँसाते हैं तो कभी रूलाते हैं । यदि संस्कार को निकालकर एक ओर रख दिया जाए तो साधन करने के लिए बाकी कुछ बचता नहीं, इसलिए साधन यदि संस्कारों पर आधारित है तो संस्कार भी, क्षय के लिए साधन की अपेक्षा रखते हैं तथा संचित होने के लिए कर्म की । इस प्रकार कर्म, संस्कार तथा साधन, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । कर्म, संस्कार, वासना, वृत्ति तथा फिर मन, इस प्रकार एक चक्र घूम रहा है जिसे तोड़ना साधन का लक्ष्य है । जहाँ साधन कर्मचक्र को तोड़ने का प्रयत्न करता रहता है, वहीं कर्मचक्र भी साधन-क्रम तोड़ने को तत्पर रहता है ।

"प्राय: साधक, संस्कारों का सामना करने से बचना चाहता है । वह संस्कारों को छुए बिना, संस्कारों को जीवित रखते हुए, एकाग्रता प्राप्त करना चाहता है । वह कभी-कभी अस्थायी रूप से ही सही, इसमें कुछ सफल भी हो जाता है, किन्तु समय आने पर तथा संस्कार पुनः उदय होने पर, मन फिर चंचल हो उठता है । सब किया धरा चौपट हो जाता है । इसलिए साधना का मार्ग संस्कारों से बचना नहीं, उन्हें क्षय करना है । यदि संसारी मनुष्य को, कभी कोई यह बता दे कि उसे अमुक दुःख आने वाला है तो वह घबरा जाता है । ज्योतिषियों तथा तांत्रिकों की खोज करने लगता है, किन्तु साधक के समक्ष विषय स्पष्ट होता है । प्रारब्ध प्रभाव दिखाए बिना रहेगा नहीं। उसे टालकर और भी अधिक प्रबलता प्रदान करने से क्या लाभ? वह प्रारब्ध से बचने का प्रयत्न नहीं करता, किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं करता, अपितु उसे सहन कर समाप्त करता है ।

"जीव संस्कारों की दलदल में धँसे हुए, एक पागल हाथी के समान है जो गहरा धँसता जाता है पर निकलना नहीं चाहता । वह इस दुःख में ही सुख माने बैठा है । मृत्यु सामने है पर वह उसे देख नहीं रहा । अध्यात्म उसे, उसकी स्थिति का भी ज्ञान कराता है, उसे सुख का मार्ग भी दिखाता है तथा बाहर निकलने में भी सहायक होता है । इसलिए अध्यात्म का विषय संस्कार ही है । संस्कार क्षय

के लिए ही वैराग्य है, प्रभु प्रेम है, योग का साधन है, ज्ञान का संचय है, सत्संग एवं कथा कीर्तन है । संस्कार क्षय के पश्चात् इनकी आवश्यकता नहीं रहती ।

''कच्चे तथा पके हुए दो प्रकार के संस्कार होते हैं जिन्हें संचित संस्कार तथा प्रारब्ध कहा जाता है । प्रसन्नतापूर्वक, विचलित हुए बिना, सहन करने के अतिरिक्त प्रारब्ध क्षय का अन्य मार्ग नहीं । चित्त प्रभावित हुए बिना, विक्षिप्त हुए बिना, सुखी-दुःखी हुए बिना, प्रतिकार किये बिना, सहन करना । यह साधना है, यही साधन है, यही अध्यात्म है । वेदान्त इसी को तितिक्षा कहता है। केवल प्राकृतिक आपदाओं को ही नहीं, मानसिक उथल पुथल को भी, शारीरिक एवं बौद्धिक सुख-दुख को भी । शक्ति जाग्रत होकर, संस्कार उभारने तथा तदनुसार, चित्त स्तर पर, स्वाभाविक क्रियाशीलता का कार्य करती है । कभी-कभी संस्कारों के कारण क्रिया, किसी अनुचित कार्य के लिये प्रेरित करती हुई सी प्रतीत होती है। ऐसे अवसर पर साधक को सावधान रहने की आवश्यकता है । साधक यदि द्रष्टाभाव से च्युत हो जाए, तो अन्तर जाग्रत वासना के प्रति समर्पित हो जाता है । यदि साधक प्रभावित हो जाये तो अनर्थ हो सकता है ।

''साधक को, साधन से संचित संस्कार क्षय करना है, सहनशीलता से प्रारब्ध क्षय करना है तथा साथ ही साथ नए संस्कार संचय से बचना भी है, जो कर्मयोग कहलाता है। तभी उसका चित्त शुद्ध होने की कोई संभावना होगी । जब तक अन्तर संस्कार तथा प्रारब्ध संचित हैं, कर्म के लिए प्रेरित करते रहेंगे, तभी तक यह सावधानी बरतने की आवश्यकता है । फिर चाहे कर्म करो, न करो । सेवा मान कर, कर्त्तव्य बुद्धि से, सहनशीलतापूर्वक उद्विग्न हुए बिना, अनुकूलता-प्रतिकूलता का लक्ष्य हटाकर, कर्म करना ही अकर्म कहा जाता है। यही कर्म करते हुए, कर्म से अतीत होने का साधन है।''

सोने के समय, मन अतीत की ओर बहुत भागता है । कभी कभी भविष्य के सुनहरे सपने भी देखने लगता है या किसी आशंका से चिन्तित भी हो उठता है, पर अधिकांश समय अतीत में ही रमण करता है । आज सोते समय, मन अतीत की एक विचित्र सी घटना का स्मरण करने लगा । जब मैं नांगल में रहा करता था तो बीच-बीच में, समय मिलने पर कुछ दिनों के लिए हिमाचल प्रदेश में किसी जगह चला जाया करता था । नांगल से एक मील पर ही हिमाचल के पहाड़ शुरू हो जाते थे । एक बार हिमाचल के बिलासपुर जिले के अन्तर्गत कुछ दिनों के लिए एक गुफा में ठहरा हुआ था । आसपास सब जंगल था । कुछ दूरी पर चार छः घर थे । एक घर से दो समय का भोजन तथा एक घर से आधा सेर दूध आ जाता था । मैं उन दिनों चाय का सेवन कुछ

अधिक ही करता था । मन में यही निश्चय किया कि यहाँ गुफा में जितने दिन रहूँगा, चाय पीने कहीं नहीं जाऊँगा । वैसे बाजार वहाँ से चार-पाँच मील ही दूर था । जाकर चाय पीकर आ जाना, कोई बड़ी बात नहीं थी, किन्तु नहीं जाने का ही निश्चय किया ।

जब चार पाँच दिन, चाय पिए बिना हो गए, तो चाय की याद सताने लगी। मन चंचल हो गया, किन्तु मैं बलपूर्वक मन की इच्छा को दबा देता था। मन बार-बार चाय की याद दिलाता रहता, मैं दबाता रहता । सामान्यतया मन का यह स्वभाव बन चुका है कि जो काम उसे करने के लिए कहा जाये, वह उछलकर विषय बदल लेता है । जो नहीं करने के लिये कहा जाये, उसे बार-बार आपके सामने ला रखता है । मन की यह ढिठाई मुझे परेशान कर रही थी। पता नहीं कहाँ से चाय का प्याला मन में उभर आता था । मैं झटक देता । मन जप में लगाता, कभी कुछ पढ़ने लगता, कभी घूमने चला जाता, किन्तु चाय पीछा नहीं छोड़ रही थी ।

पंद्रह दिन हो गये, चाय की तलब बहुत बढ़ गई थी । साधन-भजन सब एक ओर रखे रह गए। अब सिर भी बहुत भारी रहने लगा था । मन भी अपनी रट लगाए ही था । गुफा की एक दीवार पर भैरवजी का एक चित्र खुदा हुआ था । मेरे जीवन में भैरवजी की उपासना का कभी स्थान नहीं रहा, इसलिए मैंने कभी उधर अधिक ध्यान नहीं दिया । मैं गुफा में टहल रहा था तथा मन चाय के विचार पर केन्द्रित था। मेरा, चाय पीने के लिये कहीं न जाने का निश्चय डगमगाने लगा । मैंने मन के सामने हथियार डाल दिए थे । सोच रहा था कि कल प्रातः ही बाजार जाकर चाय पिऊँगा। मैं घूम रहा था तथा विचार करता जा रहा था ।

एक ओर मेरा आसन लगा हुआ था, तो दूसरी ओर भैरवजी । जब मैं जाता तो मेरा मुँह आसन की ओर होता, जब लौटता तो भैरवजी की तरफ । आज मैंने पहली बार देखा तो कि भैरवजी की छाती पर एक आला बना हुआ था । उसके अन्दर रखा हुआ कुछ सफेद सा कागज दिखाई दे रहा था, पहले तो मैंने उस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया । फिर अनायास ही हाथ आले में चला गया । वह एक पुड़िया थी जिसमें कुछ गुड़, चाय की पत्ती तथा एक आना, रखे थे । चाय की पत्ती देखते ही मेरे आनन्द की सीमा न रही । मेरी चाय की समस्या हल हो गई थी । उस समय की खुशी का मैं वर्णन नहीं कर सकता । अपार वैभव प्राप्त हो जाने पर भी इतनी खुशी नहीं होती। सोचा, कोई भक्त चढ़ा गया होगा, पर पिछले पन्द्रह दिनों से तो मैं यहाँ रह रहा हूँ, कोई भक्त नहीं आया ! संभवतः उससे पहले कोई आया होगा । जो हो, मेरे लिए भैरवजी का प्रसाद था ।

दूसरे दिन प्रातः काल मैंने महाराजश्री को यह घटना सुनाकर उनका मंतव्य प्रकट करने की प्रार्थना की । महाराजश्री ने जो कुछ कहा, उस का सारांश यह है ।

(१) इससे सर्वप्रथम यह प्रकट होता है कि मनुष्य के साथ मन, किस प्रकार खिलवाड़ करता है । वह बार-बार कई तरह से आक्रमण करता है । कभी मित्र बनकर, कभी समझा कर, कभी भरमा कर, कभी क्रोधित करके, कभी आकर्षित करके । ये सब मन की चालें हैं । मन कभी निरुत्साहित नहीं होता, चाल पर चाल चलता रहता है, जब तक मनुष्य हार नहीं मान लेता । मन पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन कार्य हैं । मन को संस्कारों से ही बल मिलता है । यदि मन को हराना है तो संस्कारों को समाप्त करना होगा, वासना को मिटाना होगा, विकारों का क्षय करना होगा ।

(२) जब तक संस्कार क्षय नहीं हो जाते, तब तक संयम रखने के लिए दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है । मन तो उपद्रव करता ही है । दृढ़ निश्चय ही उसे संयत रख सकता है । इसमें थोड़ी सी भी कमजोरी आ गई कि मन बेलगाम हो जाता है । जैसे तुम में कमजोरी आ गई तो सारा संयम निष्फल हो गया । यदि उस समय भगवान प्रसाद रूप में सहायता नहीं करते, तो तुम तो लुढ़क ही गए थे ।

(३) दृढ़ निश्चय रख पाना, साधक के लिए बड़ा कठिन है । कमजोरी आ जाने पर मन गिर जाता है, इसलिए दृढ़ निश्चय के साथ-साथ समर्पण भी आवश्यक है ताकि यदि कभी निश्चय टूट भी जाय तो गिरे नहीं । इस तरह यदि देखा जाय तो दृढ़ निश्चय समर्पण भाव को दृढ़ करने के लिए ही हैं । यदि तुम चाय पीने बाजार चले जाते तो मन पर कैसा प्रभाव पड़ता ?

(४) यदि अवसर तथा सुविधा प्राप्त हो, तो बीच-बीच में एकान्त में जाकर, कुछ दिनों के लिये साधन करना चाहिए । एकान्तवास में मन की विपरीत भावनाएँ, अधिक उग्र रूप धारण कर परेशान करती हैं । साधक को अपने मन की स्थिति को समझने का अवसर मिलता है । साधन से शक्ति-संचय होता है । फिर जनसंपर्क में रहकर व्यवहार करते हुए, मन का निरीक्षण करता है । साधन, मन के निरीक्षण की सतत् प्रक्रिया है । अपने मन से साधक कभी लापरवाह नहीं होता ।''

मैंने पूछा, ''महाराज जी, सांसारिक मनुष्यों को, एकान्त में जाने का सु-अवसर तथा सुविधा मिलना कठिन ही है, वे क्या करें ?'' महाराजश्री बोले, ''वे नित्यप्रति थोड़ा समय निकालकर, घर के ही किसी कोने में बैठकर एकान्त का आनन्द उठा सकते हैं । एकान्तवास को आधी समाधि कहा गया है । व्यवहार करते समय वे मन का निरीक्षण करते रह सकते हैं । प्रभु की शरण

में रहने तथा सेवा-भाव से कर्म करने का प्रयत्न कर सकते हैं । जहाँ तक संभव हो, कर्म के साथ जप कर सकते हैं ।''

मैंने फिर कहा, ''गुफा में रहते समय, जिस घर से भोजन या दूध आता था, हो सकता है उसकी किसी अशुद्धि या अपवित्रता के कारण ऐसा हो!'' महाराजश्री बोले, ''हाँ, यह तात्कालिक कारण हो सकता है, किन्तु यह इतना बड़ा कारण नहीं है । मुख्य तो संस्कार हैं, जो मन को सतत् चंचल बनाए रखते हैं । यदि तुम अपने मन का निरीक्षण करो, तो पाओगे कि उस घटना के पूर्व तथा पश्चात् भी मन में उपद्रव हो रहे थे, इसलिए तात्कालिक कारण के अतिरिक्त भी कोई ऐसा कारण होना चाहिए जिसका स्थायित्त्व बहुत अधिक हो, वे संस्कार ही हो सकते हैं ।''

महाराजश्री की समझ तथा विश्लेषण अनूठा था । सटीक था । एक-एक शब्द में दम था । उसके पीछे निरन्तर साधन का आधार था, इसलिए प्रत्येक शब्द सीधा हृदय में उतर जाता था । आपकी समझाने की शैली भी बेजोड़ थी, किन्तु सामान्यत: वह बिना प्रश्न किए, ज्ञान पिटारी नहीं खोलते थे । एक बार जब ज्ञान की खिड़की खुल जाती थी, तो ज्ञान प्रवाह फूट पड़ता था ।

अब मैंने एक और बड़ा ही अटपटा प्रश्न कर दिया, जिसके लिए बाद में मैं लज्जित भी हुआ, किन्तु महाराजश्री ने, न तो बुरा ही माना तथा न ही उत्तर देने से मना किया । मैंने कहा, ''आज का युग, आप जैसे महापुरुषों के रहने योग्य नहीं है, फिर जगत् में आप आए ही काहे को?'' महाराजश्री एकदम गंभीर हो गए । बोले, ''यह अलग प्रश्न है कि हम महापुरुष हैं कि नहीं, किन्तु एक बात निश्चित है कि जगत् में न कोई अपनी इच्छा से आता, न जाता है । जब उसे भेजा जाता है तो आ जाता है, जब वापिस बुलाया जाता है, तो चला जाता है । यह सब भेजने-बुलाने वाले की इच्छा के अधीन है । वह जब तक चाहता है, जीव जगत् में रहकर दुख-सुख भोगता है । अपनी इच्छा से कोई एक क्षण भी नहीं रुक सकता । यह बात दूसरी है कि एक बार यहाँ आ जाने पर, किसी का भी वापिस जाने का मन नहीं होता । जीव जगत् में दुख भोगता है, अपमानित होता है, संतप्त होता है, किन्तु जगत् त्यागने का मन नहीं होता। वह यह नहीं समझता कि जब आना-जाना उसके हाथ में नहीं है, तो यहाँ कब तक रहने का निश्चय उसके हाथ में कैसे हो सकता है ? पर फिर भी जीव यहाँ से जाने के बारे में सोचना ही नहीं चाहता । यहाँ तक कि पशु-पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े भी, अपनी जान बचाकर रखना चाहते हैं, पर क्या जगत् में कोई भी सदैव के लिए रह पाया ? काल आता है, दबोच कर ले जाता है, सगे संबंधी बिलखते रह जाते हैं ।

"हम जगत् में किसी को बुलाना चाहें तो बुला नहीं सकते । कितने ऐसे दम्पति हैं जो पुत्र-मुख देखने के लिए तरसते हैं । जाना-आना भगवान के हाथ में है । जगत् में कब तक रहना, यह निश्चय भी भगवान के ही पास है । सुख-दुख सब भगवदाधीन है । जब किसी को भेजता है तो कोई इन्कार नहीं कर सकता । जब किसी को वापिस बुलाता है तो भी इन्कार नहीं कर सकता । जीव उसके हाथ की कठपुतली मात्र है । वह कहे बैठ जाओ तो बैठ जाता है । बुलाए तो बोलता है । चुप कराए तो चुप्पी साध लेता है । पापी, पुण्यात्मा, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, सब उसके अधीन हैं । हम तुम्हीं से पूछते हैं कि क्या तुम अपनी इच्छा से आए थे या जब तुम्हारी इच्छा होगी, तब तुम जाओगे ? लोग आत्म-हत्या करना चाहते हैं, सभी का प्रयास कहाँ सफल होता है । वही आत्महत्या कर पाता है जिसको वह बुलाता है । बुलाने के लिए वह कोई न कोई बहाना बनाता है । वह स्वयं अदृश्य होने से, सामने नहीं आता, किसी न किसी को सामने कर देता है । बीमारी हो, दुर्घटना हो या आत्महत्या। वास्तविकता यह है कि उसने बुला लिया ।"

महाराजश्री के साथ सत्संग करने का समय मुझे प्रातः भ्रमण में ही मिलता था। एक तो उस समय, हम दोनों प्रायः अकेले ही होते थे । दूसरे महाराजश्री भी उस समय स्वस्थ मन होते थे । दिन भर मुझे आश्रम कार्य से अवकाश नहीं मिलता था। महाराजश्री के पास बैठने का अवसर ही नहीं था । मैंने प्रश्न किया, "महाराज जी, पहले भी साधना करता था, अब भी साधना करता हूँ किन्तु न पहले कभी मन एकाग्र होता था, न अब । क्रिया भी चलती रहती है, विचार भी चलते रहते हैं । समझ में ही नहीं आता कि हमारा लक्ष्य कहाँ जा रहा है ? जगत् के विचार ही प्रायः आते हैं, फिर साधन का अर्थ ही क्या हुआ ?" महाराजश्री बोले, "बैल के आगे गाड़ी जोतने का प्रयत्न क्यों करते हो ? जो अवस्था संस्कारक्षय के पश्चात् स्वाभाविक उदय होगी, उसे तुम संस्कार क्षय से पूर्व प्राप्त करना चाहते हो । साधन, एकाग्रता प्राप्त करने के लिये नहीं, संस्कारक्षय के लिए है । एकाग्रता स्वाभाविकता है, जो कभी लुप्त नहीं होती, किन्तु संस्कारों के दबावों में लुप्त हुई सी प्रतीत होती है । संस्कार क्षय होने पर अपने स्वरूप में प्रकट हो जाएगी । एकाग्रता का या कोई भी लक्ष्य स्थिर कर लेना, साधन के सिद्धान्त के भी विपरीत है । साधन का जो लक्ष्य है ही नहीं, उसे तुम अपने समक्ष कैसे रख सकते हो ? जरा लोगों से पूछ कर देखो कि किस-किस का कितना मन एकाग्र हुआ है । उज्जैन के एक महात्मा थे । उन्होंने अपने गुरु महाराज से दीक्षा (संन्यास) के लिए प्रार्थना की तो

गुरुजी ने कहा कि जब पाँच मिनट के लिये तुम्हारा मन एकाग्र होने लग जाए, तो मेरे पास चले आना, मैं संन्यास दे दूँगा। बीस वर्ष गुजर जाने पर भी उनका मन एकाग्र नहीं हुआ । .

"एकाग्रता मन का स्वाभाविक गुण अवश्य है, परन्तु यह गुण, अस्वाभाविक गुणों के नीचे ऐसा दब गया है, कि अनुभव नहीं होता । मन की एकाग्रता प्राप्त करने का प्रश्न है ही नहीं, क्योंकि स्वाभाविक गुण होने के नाते वह पहले से ही, सदैव प्राप्त है । प्रश्न अस्वाभाविकता दूर करने का है, जो साधन की अपेक्षा रखता है । अस्वाभाविक साधनाओं से अस्वाभाविकता बढ़ती है तथा इस प्रकार मन, अपने स्वाभाविक गुण से और भी दूर हट जाता है । हाँ, यदि साधन स्वाभाविक हो तो अस्वाभाविकता के दुर्गुण दूर होते जाते हैं तथा मन की स्वाभाविक एकाग्रता प्रकट एवं अनुभव होती है ।

"यह उपर्युक्त, एकाग्र अवस्था अध्यात्म की कोई बहुत ऊँची अवस्था नहीं है। योग दर्शन के अनुसार, चित्त की निरुद्धावस्था अर्थात् समाधि की अवस्था इससे कहीं अधिक ऊँची है, जिसमें संपूर्ण वृत्तियों का निरोध होने पर, सभी चित्त व्यापार बन्द हो जाने से, चित्त पूर्णतया निरुद्ध हो जाता है । द्रष्टा (आत्मा या पुरुष) अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है । जबकि एकाग्र अवस्था में एक लक्ष्य अभिमुख बना रहता है । एकाग्रता का अर्थ ही यही है कि चित्तवृत्ति सभी अन्य विषयों से हटकर, एक विषय पर ही एकाग्र हो गई है । यहाँ तक कि इस अवस्था में अपने अहम् का भान भी नहीं रहता तथा वृत्ति तदाकार हो जाती है । जब एक विषय (ध्येय) का ज्ञान बना है तो वृत्ति (Objective) ध्येयात्मक है, चित्त कार्य कर रहा है, सम्पूर्ण वृत्ति निरोध नहीं हुआ । जब कि असम्प्रज्ञात में दृश्य पूर्णतया विलीन हो जाता है । भाव तथा अभाव दोनों का ज्ञान विलुप्त हो जाता है । एकाग्र अवस्था योग नहीं, योग की दिशा में आरम्भ-मात्र है । यात्रा आगे भी बढ़ सकती है तथा मुँह पुनः जगत् की ओर भी घूम सकता है । वैसे योग साधना के प्रयत्नपूर्वक अभ्यास का आरम्भ, चित्तवृत्ति को किसी एक ध्येय पदार्थ पर एकाग्र करने के यत्न से ही किया जाता है । पहले कोई स्थूल पदार्थ लिया जाता है, फिर ध्येय पदार्थ को सूक्ष्म से सूक्ष्मतम किया जाता है, यहाँ तक कि अन्त में अस्मिता ही ध्येय हो जाता है, किन्तु तुम्हारी ऐसी यत्नसाध्य साधना नहीं है, तुम्हारा तो साधन है शक्ति जाग्रति का, समर्पण का, जाग्रत शक्ति को कार्य करने देना ही कर्त्तव्य है । एकाग्रता के पीछे मत भागो । शक्ति को संस्कार क्षय करने दो । एकाग्रता भी आ जाएगी, समय पर चित्त निरुद्ध भी हो जायगा। इसीलिए साधन में धैर्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है । शक्ति की क्रिया सीधे संस्कारों पर आघात करती है । उन्हें शुद्ध करती है । निर्मलता प्रदान

करती है । जब कभी एकाग्रता के संचित संस्कार उदय हो जाते हैं तो क्रिया में ही एकाग्रता का अनुभव भी होता है । चित्त सत्त्वगुण प्रधान हो जाने पर, एकाग्रता की स्वाभाविक अवस्था भी प्रकट होती है । इस तरह जाग्रत शक्ति चित्त की निरुद्धता का मार्ग प्रशस्त करती जाती है ।

"यदि साधक, शक्ति की क्रियाओं में अपने अहम् को घुसाने का प्रयत्न नहीं करे, तो उन्नति की गति तीव्र से तीव्रतर हो सकती है, किन्तु अहम् है कि बार--बार घुस ही जाता है । अमुक क्रिया हो, अमुक नहीं हो, अमुक तीव्र हो, आदि-आदि । कुछ न कुछ करता ही रहता है । इन सब बातों से क्रिया की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है तथा गति मन्द पड़ जाती है । संस्कारों का चक्र बड़ी कठिनता से छूटता है।"

मेरा अगला प्रश्न था, "जब आप नेपाल गए हुए थे तो कई साधकों से चर्चा करने का अवसर मिलता रहता था । प्राय: सभी बड़े ऊँचे अनुभवों की बातें करते थे। ऐसा लगता था मानो ये सब उच्चकोटि के साधक हैं, पर तत्काल ही राग-द्वेष की चर्चा होने लगती थी । सभी की बातों में अभिमान झलकता था । कभी-कभी तो सामान्य सी बात पर कहा-सुनी भी हो जाती थी। तब ऐसा लगता था, यह तो सामान्य संसारी ही हैं ।"

महाराजश्री थोड़े गंभीर हो गए । बोले, "अनुभव केवल अनुभव के लिए नहीं होते, चित्त स्थिति निर्माण के लिए होते हैं । चित्त स्थिति संस्कार क्षय से बनती है । तुमने अभी जिन बातों का वर्णन किया, उसका अर्थ यह चित्त-स्थिति अभी तक नहीं बनी । मनुष्य के चित्त में जो अभिमान बैठा है, वह चित्त स्थिति नहीं बनने देता । नहीं तो जो साधन साधक करता ही नहीं, उसमें अभिमान कैसा ? किन्तु साधक फिर भी अभिमान करते हैं मन में यदि अभिमान है तो सभी दुर्गुण अपने आप पीछे-पीछे चले आते हैं । ऐसे साधक भले कुछ भी कहते रहें, किन्तु अभी वे साधक की श्रेणी में नहीं आए । अभिमान सिर को ऊँचा करता है, कटवाता नहीं । सामान्य बातों पर कहा-सुनी का अर्थ है, सहनशीलता की कमी । राग-द्वेष का अर्थ है जगत् के प्रति सत्यता की प्रतीति। जिनमें अभी ये बातें हैं वे साधक काहे के ? केवल दीक्षा ले लेना ही पर्याप्त नहीं है, केवल साधन में बैठना भी पर्याप्त नहीं है । इनके साथ कुछ और भी चाहिए । गाम्भीर्य, उदारता, सहनशीलता, नम्रता, समर्पण तथा सेवा, संयम, इन्द्रियाँ, मन तथा वाणी का संयम । तब साधक के संचित संस्कार साधन में क्षीण होते हैं । सहनशीलता से प्रारब्ध समाप्त होता है तथा सेवा से संस्कार संचय रुकता है ।

"जगत् में बातें बनाने वालों की कोई कमी नहीं, पर आध्यात्मिकता केवल बातों का विषय नहीं, यदि होता तो अब तक सारा जगत् मुक्त हो गया होता। अध्यात्म में चित्त स्थिति देखी जाती है, मन की निर्मलता तथा वासनाओं का क्षय देखा जाता है और देखी जाती है निरभिमानता। भगवान की कृपा का पात्र बनना इतना सरल नहीं।

"यह नहीं कि मैं इन सब बातों से अनभिज्ञ हूँ, किन्तु इन लोगों की चित्त स्थिति के कारण, विवशता को देखते हुए, इन पर दया आती है। मैं जानता हूँ कि ये अपने मन में, इन दुर्गुणों के कारण दुखी हैं, इनसे छुटकारा भी चाहते हैं, किन्तु ऐसा कर नहीं पा रहे। वासना के झूले में झूल रहे हैं, संस्कारों की दलदल में फँसे हैं। निकलने का प्रयत्न भी करते हैं तो और गहरे धँसते चले जाते हैं। अब तुम ही बताओ कि इन पर क्रोध किया जाय या दया। वासनाओं से दुखी होकर ही, उन्होंने गुरु शरण ग्रहण की थी। दीक्षा प्रदान करते समय, मुझे उनकी चित्त स्थिति का पता था, इसीलिए उन्हें दया का पात्र समझते हुए दीक्षा दी थी। अब वासना की दलदल से निकलने में समय तो लगेगा ही। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हैं, एक दिन में क्षीण होने से तो रहे। कभी ऊपर तो कभी नीचे, ऐसा चलता ही रहेगा। ऐसा सभी साधकों के साथ होता है, किन्तु यह बात निश्चित है कि उनकी आन्तरिक यात्रा आरंभ हो चुकी है। गुरु शक्ति की कृपा प्राप्ति के पश्चात् अन्तर प्रकाश प्रकट होने लगा है, किन्तु संस्कारों की धुंध बार-बार उठकर, मन को आच्छादित कर देती है।

"अब तुम्हें भी इस संबंध में एक बात कहना है। लोगों के ऐसे विकारों की ओर तुम्हारा लक्ष्य जाना ठीक नहीं कहा जा सकता। तुमने विकारों को देखा, जाग्रत शक्ति को नहीं देखा, उन्हें गिरते हुए देखा, उठने का प्रयत्न करते हुए नहीं देखा। चित्त पर छाई धुंध को देखा, प्रकाश की किरण फूटते हुए नहीं देखा। हर व्यक्ति संस्कारों के साथ युद्ध में रत है। उन्हें परास्त करने के प्रयत्न में कई बार स्वयं पराजय का मुँह देखना पड़ता है। इस संघर्ष में जीव, कई बार यह भी भूल जाता है कि वह युद्ध कर रहा है, पर संघर्ष चलता रहता है। यदि तुम्हारा लक्ष्य इन विकारों की ओर जाता रहेगा, तो तुम स्वयं विकारों से कभी भी उबर नहीं पाओगे। विकार दिखने का अर्थ ही यही है कि वे विकार हमारे अपने अन्दर भी अभी हैं। लक्ष्य देने से अन्दर के विकारों की पुष्टि होती है, अत: ऐसे लोगों के प्रति घृणा तथा आश्चर्य का भाव त्यागकर, दया के भाव से मन को भर लो। इनकी मुक्ति के लिये भगवान से प्रार्थना करो तभी तुम्हें भी मुक्ति मिलेगी। इनकी सहायता का यत्न करो तभी तुम्हें भी कोई सहायक होगा। इनके आँसू पोंछो तभी तुम्हारे भी आँसू पोंछे जाएँगे। अध्यात्म अत्यन्त सूक्ष्म मार्ग है। पता भी नहीं चलता कि कब संस्कार संचित हो जाते हैं, कब

बल ग्रहण करते हैं, कब प्रारब्ध बन जाते हैं। लोग सारा-सारा जीवन असावधानी में ही व्यतीत कर देते हैं तथा अन्तर में संस्कारों के ढेर लग जाते हैं। सभी गुणों के, प्रत्येक कर्म के शुभ भी तथा अशुभ भी, संस्कार संचित होते रहते हैं। इस सूक्ष्म प्रक्रिया को अनुभव करना, रोकना, संस्कार संचय न होने देना, साधन का ही अंग है।

''जगत् में शुभ तथा अशुभ भलाई तथा बुराई, दोनों एक साथ सर्वत्र व्याप्त हैं। बाहर जगत् में भी तथा शरीर के अन्दर भी। यह तुम पर है कि तुम क्या देखना चाहते हो, किस से संबंध जोड़ना चाहते हो, क्या ग्रहण करना चाहते हो। इसीलिए संतजन सदा परदोष दर्शन, परनिन्दा करना तथा सुनना तथा राग-द्वेष के भाव से बचते हैं, क्योकि कहीं ऐसा करने से उन का मन बुराई के साथ जुड़ न जाए। जगत् में यादि बुराई देखने में लग जाओगे, तो सभी जगह बुराई ही दिखेगी। यादि बाहर देखना ही है तो सब जगह अच्छाई को देखो। यदि बुराई देखना ही है तो अपने मन के अन्दर झाँको। फिर पता चलेगा कि तुम कहाँ खड़े हो।''

मेरा मन महाराजश्री के विचारों को सुन-सुन कर मुग्ध होता जा रहा था। इन विचारों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जगत् सुहाना, सुंदर, रम्य तथा सुखदायी प्रतीत होने लग गया। इसमें सर्वत्र सुगंध फैली थी। लोगों के शरीर मात्र बाहरी खोल दिखाई देने लगे, जिसमें आत्म ज्योति प्रकाशित है, किन्तु यह स्थिती अधिक देर न टिक सकी। यह तो महाराजश्री के वचनों का प्रभाव था जिसने मेरे चित्त को अधिकार में ले लिया था। यह भाव टूटा कि मन में फिर कुभाव जाग गया, मन फिर बुराई की ओर प्रवाहित होने लगा। फिर दूसरों के अवगुण दिखाई देने लगे। मैंने सकुचाते हुए से महाराजश्री के सामने अपनी बात रखी, ''महाराजश्री, कई ऐसे लोग भी हैं, जो आपकी बात सुनते ही नहीं, आपके सामने हाँ, हाँ करते हैं, बाहर जाकर मनमानी करते हैं, उनका क्या होगा?'' महाराजश्री बोले, ''तुम अभी तक वहीं जमे हो। अभी तक भी तुम गुरु - शिष्य के संबंध के स्वरूप को नहीं समझ पाए। गुरु दीक्षा के समय शिष्य की मंगल कामना करता है, इसलिए उसके अमंगल की कामना कर ही नहीं सकता। यदि कभी उसे शिष्य का अमंगल होता दिखाई देता है, तो उसका हृदय चीत्कार कर उठता है। एक बात तो स्पष्ट है कि शिष्य का हृदय मलिन है, नहीं तो उसे गुरू के पास आने की आवश्यकता ही क्या थी ? विकारों, वासनाओं से अन्तर भरा है। वह गुरु उपदेश भी मलिन चित्त से ही ग्रहण करता है। उसे उपदेश के अर्थ तथा भाव समझने में कठिनाई होती है। शक्ति जाग कर, चित्त निर्मलता के लिये क्रियाशील होती है, पर उसमें समय लगता है। तब तक शिष्य, गुरु की अवज्ञा करता जाता है। गुरु, शिष्य का शुभचिन्तक होने से, उसकी भूलों

को उदार मन से क्षमा करता रहता है । कई बार शिष्य के हित में ही उसे फटकार भी लगाता है तथा कई बार अनदेखी कर जाता है । गुरु कब कैसे चलता है, यह गुरु पर ही छोड़ देना चाहिए ।

"यदि गुरु में शिष्य के प्रति स्नेह होता है तो शिष्य में गुरु के प्रति श्रद्धा तथा समर्पण । श्रद्धा तथा समर्पण के भी विभिन्न स्तर हैं । एकदम श्रद्धा की परिपक्व अवस्था की आशा नहीं की जा सकती । श्रद्धा तो फिर भी थोड़ी बहुत आरम्भ में होती है, किन्तु समर्पण का अभाव देखा जाता है । समर्पण सेवा भाव का परिणाम है तथा समर्पण ही सेवाभाव को निखारता भी है । समर्पण ही सेवाभाव को परिपक्वता प्रदान करता है । समर्पण ही गुरु-शिष्य संबंध को प्रगाढ़ बनाता है । अधिक क्या कहा जाए, समर्पण में सभी साधनाओं तथा साधन का अन्त हो जाता है । समर्पण ही साधन को विकसित करता है तथा फिर अपने में समा लेता है ।

"अभिमान समर्पण का विरोधी है । जो लोग मेरे सामने हाँ-हाँ करते हैं तथा बाहर जाकर मनमानी करते हैं, वे अभिमान के वशीभूत ही ऐसा करते हैं। अभिमान एकदम जाता नहीं, उसके लिए लम्बे उपचार की आवश्यकता है । प्रेम तथा साधन की आवश्यकता है । यदि गुरु ही नाराज होकर शिष्य का त्याग कर दे, तो उपचार कौन करेगा । जगत् में किसी को, किसी की कुछ पड़ी नहीं। एक गुरु ही शिष्य के कल्याण की सोचता है । गुरु-शिष्य संबंध कल्याण की ही भावना पर आधारित है। कोई भी मोह नहीं, कोई स्वार्थ नहीं, इसलिए गुरु का दृष्टिकोण उदार होता है । शिष्य यदि हजार बार भी भूल करे, तो भी वह प्रेम से उसे अपने कण्ठ से लगाता है । शिष्य के अनिष्ट की संभावना होने पर उस का हृदय तड़प उठता है ।

"शिष्य छोटे बालक के समान होता है । कभी रूठ जाता है, कभी चंचल हो जाता है । जिस प्रकार लहर समुद्र से ही उठती है, किन्तु अपनी अलग पहचान प्रदर्शित कर विभिन्न आकार धारण करती है, चंचलता दिखाती है, किन्तु शान्ति तभी मिलती है जब समुद्र में विलीन हो जाती हैं । शिष्य में भी अभिमान होता है, अपनी समझ होती है, योजनाएँ होती हैं, चंचलता होती है, किन्तु उसे शान्ति नहीं मिलती । वह तभी मिलती है जब गुरु चरणों में समर्पित हो जाता है । इसीलिए संतों-शास्त्रों ने गुरु की महिमा गाई है ।

"आज गुरु-शिष्य संबंध संकट की स्थिति में है । गुरु भी बहुत हैं, शिष्य भी बहुत हैं, पर गुरु-शिष्य संबंध का वह स्वरूप नहीं है । ऐसा स्वरूप कहीं-कहीं ही देखने को मिलता है । गुरु तथा शिष्य दोनों का स्तर उतार पर है, इसलिए आध्यात्मिक साधनों की ऐसी दुर्दशा हो रही है ।

''रामायण का एक प्रसंग स्मरण हो आया । अपने वनवास काल में रामजी महर्षि अत्रि के आश्रम में जाते हैं तथा सीता जी के समक्ष, महर्षि पत्नी, देवी अनुसूया की बहूत बढ़ाई करते हैं । उत्तर में देवी अनुसूया कहती हैं, ''मैंने अपने पति की एकनिष्ठ सेवा के अतिरिक्त कुछ नहीं किया । पति को ही परमेश्वर माना । इसी अनन्य सेवा से मुझे सब कुछ मिल गया है ।''यही बात शिष्य के संबंध में भी कही जा सकती है । यदि शिष्य गुरु पर अटल श्रद्धा रखे, निरत्नत सेवा में रत रहे, अन्य गुरुओं को बड़ा मानकर, उनके पीछे न भागता रहे, सब कुछ गुरू को ही माने, तो उसे अन्य कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं, किन्तु अभिमान आड़े आ जाता है । इसीलिए शिष्य कई बार गुरु की अवज्ञा कर जाता है । गुरु के सामने आँख की शरम रहती है, पर गुर की अनुपस्थिती में मन खुल कर खेलता है ।''

मैंने प्रश्न किया ''किन्तु यादि गुरु का शरीर ही विलीन हो जाय तो शिष्य क्या करे?'' महाराजश्री बोले, ''रामजी को उनके पिता ने चौदह वर्ष का वनवास दिया, उसके पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया । रामजी के मन में यह कभी नहीं आया कि पिताजी तो अब रहे नही, वन में भटकने की क्या आवश्यकता है? रामजी ने उन वचनों का उसी प्रकार पालन किया । गुरु का शरीर यदि नहीं भी रहे, तो भी उनके द्वारा दिया नहीं भी रहे, तो भी उनके द्वारा दिया गया साधन उपदेश-निर्देश तो शिष्य के पास होते ही हैं । फिर गुरु जाते भी कहाँ हैं? पहले दृश्य थे, अब अदृश्य हो गए । शिष्य में क्षमता हो तो कभी भी दर्शन कर सकता है । उन्नत साधक के साथ तो वैसे भी गुरू सर्वदा ही रहते हैं । गुरु का यथार्थ ज्ञान हो जाए तो जन्म-मरण की भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है ।''

महाराजश्री बोलते जा रहे थे तथा मैं स्तब्ध बना, समझने का प्रयत्न कर रहा था, जैसे ज्ञान का झरना बह रहा हो, पीते जाओ, प्यास मिटाते जाओ, प्यास मिटाते जाओ, पर प्यास कहाँ मिटती थी, जितना पियो और भी भड़कती थी । एक-एक शब्द हृदय पर आघात करता था, प्रत्येक विचार नई दिशा प्रदान करता था तथा महाराजश्री के हृदय में उठा हर भाव, भावातीत अवस्था की ओर बढ़ाता था । अंब मेरे मन में भी प्रश्नों का उठना बन्द हो चुका था । कहाँ का जगत्, कहाँ का राग- द्वेष, सब विलीन होता सा प्रतीत हो रहा था ।

आज बचपन की स्मृतियाँ ताजा हो उठी । लाहौर की गलियाँ, रंगीनियाँ आँखो के सामने नाचने लगीं । मन भी न जाने कब- कब के चित्र अपने में समेटे बैठा है । कभी इसे खोलकर देखो तो स्वयं दंग रह जाओ कि यह सब तो हमें भी याद नहीं । मन, कब क्या, अन्तर में से निकलकर, आपके सामने

रख देगा, यह आपको भी पता नहीं । इस समय लाहौर याद आने का कोई प्रसंग या कारण नहीं था, पर मन जैसे बलात् खींच कर अतीत की ओर ले गया।

तब मैं स्कूल में पढ़ता था । जब कभी भोजन करने बैठता, रोटी गरम होती तो उसे ठंडा करने के लिए ऊपर से उसका परदा उतार देता, तब हमारी माताजी कहती, "नहीं बेटा, किसी का परदा उतारना अच्छी बात नहीं है । ऐसे नहीं करते।" अब मैं सोचता हूँ कि कितनी छोटी सी बात के माध्यम से माताजी कितनी बड़ी बात कह जाती थीं । सारा जगत् वस्त्र पहने घूमता है पर वस्त्रों के अन्दर सभी निर्वस्त्र हैं । मैं भी, आप भी, सब ही । उसी प्रकार सबके शरीर उजले हैं, पर सबके मन में मैल भरी है । जो घर देखा नहीं, बस वही साफ है । कौनसा घर है जिसमें काम, क्रोध, अभिमान ने घर नहीं किया हुआ! हम अपने ऊपर चादर खेंच कर, अपने आप को ढाँकने का प्रयत्न करते हैं, पर दूसरे पर पड़ी चादर को उतार कर । उसे जगत् की सर्दी-गर्मी सहन करने के लिए खुला छोड़ देते हैं । जगत् के सभी जीवों का यही ढंग है, किसी का अधिक, किसी का कम । एक संत ही हैं जो अपनी चादर देकर भी दूसरों को ढाँकते हैं ।

घूमते समय मैंने महाराजश्री से बचपन की इस स्मृति के संबंध में चर्चा की, तो बोले, "हाँ भई, जगत् का तो यही ढंग है, जिसको देखो वहीं दूसरे के ऊपर से चादर खींचने में लगा है । दूसरों में दोष देखना, दोषों का अनुमान लगाना, कल्पना करना, सुन कर उसे सच मानना तथा ले उड़ना । कोई उस दोष को झूठ सिद्ध कर दे तो भी उस पर अड़े रहना, यह सब तो जगत् करता है । कहने को तो कहा जाता है कि जो शीशे के मकान में रहते हों, उन्हें दूसरों पर पत्थर नहीं फेंकना चाहिए, किन्तु यहाँ तो सभी शीशे के घरों में ही रहे हैं तथा सभी एक दूसरे पर पत्थर भी फेंक रहे हैं । नहीं तो कौन क्रोध, मोह, अभिमान से अछूता है । कौन है, जिसे काम, लोभ तथा आसक्ति ने पाश में न बाँध रखा हो, जो अपनी बुद्धिमता के नशे में चूर न हो, किन्तु अपनी बुराइयों को अनदेखा कर, दूसरों की बुराइयों को उछाल रहे हैं । हवा दे रहे हैं । एक महात्मा थे, ईरान में । राजाज्ञा हुई कि इन्हें पत्थर मार-मार कर मार दिया जाए, लोग पत्थरों की वर्षा करने लगे । एक दूसरे महात्मा घूमते हुए आ निकले बोले कि वही इसको पत्थर मारे जिसने जीवन में स्वयं पाप न किया हो । सब के हाथ रुक गए । इस तरह सब अंधे हैं, किन्तु दूसरे को अंधा-अंधा कहकर चिढ़ा रहे हैं।

"न किसी के पास इतना समय हैं, न ही रुचि कि सोचकर, ठहरकर, बात की गहराई में जाए, बस देखा देखी पत्थर फेंकने में लगे हैं । जो नहीं फेंकते उन्हें मूर्ख कह रहे हैं । वे लोग यह नहीं समझते कि आज आप फेंक रहे हो, कल आप पर फेंके जाएँगे । आज आप निर्वस्त्र करने में लगे हो, कल

आप भी किए जाओगे । जगत् का यही नियम है, जो आज जैसा करेगा, कल उसके साथ वैसा ही होगा ।

"किन्तु साधक का दृष्टिकोण भिन्न होता है, जगत् के इस प्रकार व्यवहार को वह अपने प्रारब्ध का प्रतिफल मानता है । जगत् सबके साथ एक जैसा व्यवहार नहीं करता । जीव के प्रारब्धानुसार ही उसके साथ व्यवहार होता है । यह आवश्यक नहीं है कि आज भी उस का कर्म वैसा ही हो । यदि प्रारब्ध में प्रशंसा है तो कोई निन्दा कैसे कर सकता है ? वह इस में जगत् का कोई दोष नहीं देखता । यदि वह दोष देखने लग जाए तो वह भी जगत् में से एक हो जाए। साधक की यही विशेषता है । जहाँ जगत् दोष देख-देख कर, दोष संचय करता है, वहीं साधक निर्दोषता देखकर, निर्दोषता का विकास करता है । इसीलिए साधक जगत् व्यवहार से विक्षिप्त नहीं होता, जबकि संसारी दुखी हो जाता है । यदि कोई किसी का परदा उतारता है तो उत्तर में वह भी उसका परदा उतारने लगता है । सत्य हो या झूठ, वास्तविक हो या काल्पनिक, उसे तो किसी प्रकार नीचा दिखाना है । नीचा दिखाने की जगत् में होड़ सी लगी है ।

"साधक, इस सब को प्रभु की लीला के रूप में देखता है । अपने ऊपर ईश्वर की कृपा समझता है कि उसने उस के मन को शुद्ध करने की व्यवस्था की । सुख या दुख, प्रभु कृपा के अतिरिक्त कुछ देखता ही नहीं । संभवतः माया का यही कार्य है, लोगों को भ्रमित करना, उन से अत्याचार कराना तथा इस प्रकार भक्तों के चित्त को शुद्ध करना । माया वन्दनीय है, पूज्या है । यदि सारा ज़गत् गांभीर्य धारण कर ले, तो भक्तों के साथ अभद्र व्यवहार कर, उनके मन को निर्मल कौन करे ? राजा हरिश्चन्द्र को दुख देने के कारण महर्षि विश्वामित्र को लोग भला-बुरा कहते हैं, किन्तु महर्षि ने, प्रारब्ध क्षीण कर राजा हरिश्चन्द्र पर कितना उपकार किया इसको कोई भक्त ही समझ सकता है ।

"इसलिए यदि जगत् परदे उतारता है तो उतारने दो, इससे आप के चित्त के परदे भी उतर जाएँगे । आप किसी का परदा मत उतारो, क्योंकि दूसरे का परदा उतर कर, आपके चित्त पर पड़ जाएगा । जो आपका पर्दा उतारें उस को सहन करो, कोई भी हो, किसी के भी प्रति द्वेष मत पालो क्योंकि आपके चित्त पर द्वेष का परदा पड़ जाएगा । सब प्रारब्ध के खेल हैं, उसे प्रसन्नतापूर्वक भोग कर समाप्त करो ।"

मेरा अगला प्रश्न था, "प्रायः साधक जल्दी करते हैं । वे साधन में प्रगति के लिए कोई छोटा मार्ग चाहतें हैं, जिससे शीघ्रातिशीघ्र आत्म लाभ कर सकें।" महाराजश्री बोले, "ऐसे साधक साधन नहीं कर सकते या करना नहीं चाहते । वैसे तो अध्यात्म साधन में छोटा मार्ग होता ही नहीं, यदि प्रभु कृपा हो जाए तो अलग बात है । विचार करो, साधक के पास क्या-क्या काम हैं -

(१) जगत् में सत्यता की प्रतीति को समाप्त करना है । साधक को जगत दुखरूप दिखाई देना चाहिए, जबकि सामान्य मनुष्य इसमें सुख की कल्पना करके, इसके पीछे भागता है । इसके लिए वैराग्य आवश्यक है । वैराग्य की अवस्था प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं । वैराग्य भी कोई कारण या श्मशान नहीं, अपितु विवेकयुक्त, अनुभवयुक्त परिपक्व वैराग्य । देखा जाय तो वैराग्य-प्राप्ति साधन-पथ का कठिनतम भाग है । आसक्ति के भाव इतने दृढ़ हो चुके हैं कि जगत् से हटने ही नहीं देते । इसे प्राप्त करने के लिए कितना समय लगेगा ।

(२) भगवान के प्रति अनन्य प्रेम । अभी तो मनुष्य का प्रेम बँटा हुआ है, कुछ जगत् में, कुछ शरीर में, कुछ यश में, कुछ अधिकारों में, थोड़ा सा भगवान के भाग में भी आ जाता है। इन सब से प्रेम हटाकर, सारा का सारा भगवान के प्रति करना है । जगत् समक्ष है, इन्द्रियाँ बर्हिमुख हैं, भगवान अभी अदृश्य हैं, कल्पना या भावना का विषयमात्र । उनके प्रति अनन्य प्रेम उदय करना कितना कठिन कार्य है । कितने श्रम तथा समय की आवश्यकता है ।

(३) चित शुद्धि । संस्कार एवं वासना क्षय हुए बिना न तो वैराग्य ही पुष्ट होता है, न ही जगत् की सत्यता का भाव निवृत्त होता है तथा न ही प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम जाग्रत होता है । अध्यात्म उन्नति स्वप्न ही बनी रहती है । संस्कार, वासना के माध्यम से वृत्ति को बहिर्मुख किए हुए हैं । बहिर्मुखी वृत्ति में मन की एकाग्रता कैसी ? जगत् में भी, बहिर्मुखी वृत्ति में भी अध्यात्म वृत्ति बनाकर रखना, केवल सिद्ध-पुरुषों के लिए संभव है । ये संस्कार इतने गहरे हैं कि उन्हें क्षय करने के लिए सतत् परिश्रम तथा सावधानी की आवश्यकता है । फिर मनुष्य तो अभी नए संस्कार संचय में ही जुटा है । मन निर्मल कैसे होगा ? यह क्या छोटा सा सरल कार्य है ? जगत् में सबसे कठिन यही काम है । संस्कार संचय करते समय तो मनुष्य आगा पीछा नहीं देखे तथा साधन करने का अवसर आता है तो छोटा मार्ग ढूँढता है ।

"इसीलिए मैंने कहा कि ऐसे लोग साधन करना नहीं चाहते, बहाने बनाकर, समय बरबाद करना चाहते हैं । वैसे देखा जाए तो इतनी कष्ट साध्य शक्ति की जाग्रति, इतनी सरलतापूर्वक मिल गई, यह क्या छोटा मार्ग नहीं है? किन्तु फिर भी साधन धैर्यपूर्वक ही करना पड़ेगा। फल प्राप्ति में उतावलापन, साधन की निरन्तरता भंग कर सकता है।

"आज का युग उतावलेपन का ही है। शीघ्रातिशीघ्र बिना परिश्रम किए अधिक से अधिक धन प्राप्त करने की इच्छा, बिना मेहनत किए ही अच्छे अंकों से पास हो जाने की जिज्ञासा, तीव्र गति से गाड़ी चलाना, ये सब इसी बात के द्योतक हैं। साधन करने में भी यही मनोवृत्ति कार्य करती है । कम से

कम साधन करना पड़े तथा शीघ्रातिशीघ्र फल प्राप्ति भी हो जाय । सब से अच्छा तो यह है कि कोई सिद्ध पुरुष मिल जाए, जो सिर पर हाथ रख दे तथा समाधि लाभ हो जाए । जगत् का त्याग भी न करना पड़े तथा ईश्वर भी मिल जाए । वैराग्य के पचड़े में कौन पड़े ? किसी छोटे मार्ग से ही गंतव्य तक पहुँचा जाए, यही इच्छा । उतावलापन, समय नष्ट करना, लापरवाही, अनावश्यक कार्यों में समय व्यतीत करना ही, आज का जीवन बन चुका है ।

"वैसे तो व्यवहार में भी यह वृत्ति घातक है, परन्तु आध्यात्मिक साधन में तो यह, साधक को साधन से ही पतित कर देती है । साधन के लिए धैर्य आवश्यक है, जबकि उतावलापन धैर्य विरोधी है । फिर यह बात भी है कि शक्ति जाग्रति के पश्चात् साधक, साधन करता ही नहीं । केवल शक्ति के प्रति समर्पण कर देता है । यदि साधन शक्ति करती है तो साधन का लक्ष्य तथा समय, निश्चित करने का अधिकार भी उसका ही है । साधक को हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार है ? क्या उसका समर्पण मात्र मौखिक ही है ?

"हाँ, एक छोटा मार्ग अवश्य है जिससे आप बिना संस्कार क्षय किए ही मुक्त हो सकते हैं पर उस पर चल पाना असम्भव नहीं तो असम्भवप्राय: अवश्य है । अपने जितने कर्त्तव्य हैं, जितनी वासनाएँ हैं, आपके पास घर, परिवार, धन, वैभव, यश-अपयश जो कुछ भी है, प्रभु चरणों में अर्पित कर दीजिए । यह समर्पण केवल मौखिक नहीं, हार्दिक होना चाहिए । उसके पश्चात् यश-अपयश हानि-लाभ जो कुछ भी हो, सब प्रभु का । आपका मन प्रभावित नहीं होना चाहिए । यह सबसे छोटा मार्ग है, परन्तु ऐसे समर्पण के लिए चित्त उपयुक्त होना चाहिए । यह सम्पूर्ण समर्पण की अवस्था बहुत ऊँची है तथा इस प्रकार का चित्त निर्माण करने के लिए बहुत कुछ करना पड़ेगा, अर्थात् मार्ग छोटा होकर भी छोटा नहीं । यदि समर्पण का ऐसा भाव चित्त में विकसित हो जाए तो साधक को चित्त शुद्धि की कोई चिन्ता नहीं । जिसका चित्त है वह जाने। घर-परिवार वह चलाए न चलाए, आपको क्या ? यश-अपयश सब उसका है, आप सारा बोझ उसके कंधों पर रखकर मुक्त हो गए । यह मार्ग छोटा पर अत्यन्त ही कठिनसाध्य है । अभिमान ऐसा समर्पण करने नहीं देता। अपनी चिन्ता तथा प्रयत्न को छोड़ना नहीं चाहता, ऐसा ईश्वर पर विश्वास की कमी के कारण होता है । जहाँ विश्वास नहीं, वहाँ समर्पण संभव ही नहीं । जहाँ समर्पण नहीं, मुक्ति कैसी ? इसलिए मैंने कहा कि एक छोटा मार्ग अवश्य है, परन्तु कोई विरला ही उस पर चल पाता है । यह ऐसा विचित्र मार्ग है कि यदि इसके लिये प्रयत्न करो, तो चाहे जीवन पर जीवन निकलते जाएँ, फिर भी मन की वह स्थिति नहीं आए, किन्तु कभी अनायास ही मन भावयुक्त हो जाता है, तो यह स्थिति प्रकट हो जाती है, अतः सामान्य साधक के लिए उचित यही है

कि शीघ्र मुक्ति-लाभ की इच्छा त्यागकर, धैर्य धारण कर मन को साधन में लगाए। साधन लम्बा क्रम है। साधन कठिनसाध्य क्रम है, किन्तु साधन में कितने भी विघ्न क्यों न आएँ, भगवान का वरदहस्त बना रहता है। कोई भी विघ्न भगवद्शक्ति से अधिक शक्तिशाली नहीं है। केवल उस शक्ति का आश्रय लेने की आवश्यकता है। यही समर्पण है। साधक में अन्तर जाग्रत शक्ति सब सँभाल लेती है।''

महाराजश्री के सान्निध्य एवं सत्संग से नित्य नया उत्साह, नयी उमंग मन में उठ रही थी, एक-एक करके अन्तर में गाँठें खुलती जा रही थीं। शंकाएँ निवृत्त हो रही थीं तथा मार्गदर्शन प्राप्त हो रहा था। महाराजश्री सदैव ही अपने भाव में स्थित रहते थे, न तो उनके चित्त से कभी भी अध्यात्म सुख दूर होता था, न ही मन में कोई विकार ही उभरता था। आज भी वह सौम्य मूर्ति आँखों के सामने वैसी ही उपस्थित है। इतना कुछ होने पर भी मेरे मन के विकार अभी तक हार मानने को तैयार नहीं थे। कभी भी अवसर पाकर अपना अस्तित्त्व दिखा जाते थे। जगत् व्यवहार में भी तथा एकान्त में भी। एकान्त में कुछ अधिक ही उछल कूद करते थे। जब साधन करता या सोने को जाता या जप-पाठ करता, तो जाने कहाँ से आकर प्रकट हो जाते। कई बार तो विकारों में ऐसा खो जाता था, कि जैसे उन्हीं के रंग में रँग कर, उन्हीं के आकारवत ही हो गया हूँ। काफी प्रयत्न करता, मन को साधन में लगाता, किन्तु समुद्र की लहरों की भाँति विकारों की लहरें भी, एक के पश्चात् एक, उभरती ही चली आतीं। अपना प्रयत्न कुछ भी काम नहीं करता। कई बार, शरीर तो आश्रम का कुछ काम कर रहा होता, पर मन में विकारों का तूफान अपना रंग जमाए होता। कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि इन अन्तर असुरों से कैसे छुटकारा प्राप्त हो। अन्ततः महाराजश्री के समक्ष ही अपनी समस्या प्रस्तुत करने का निश्चय किया।

सुनकर, महाराजश्री ने कहा, ''इस तरह मन ही मन अपने विकारों से लड़ते-लड़ते, एक दिन तुम हतोत्साहित हो जाओगे तथा साधन विमुख बन जाओगे। अपने मन में, पहले कुछ बातों को स्पष्ट समझ लो - (१) मनुष्य या जीव के अन्तर में विकारों का होना स्वाभाविक है। जन्म-जन्मान्तर तक मोहयुक्त कर्मों में लिप्त रहने का और परिणाम हो भी क्या सकता है। सत्संग करने से, कुछ देर के लिए सत्संग का प्रभाव तथा भाव मन पर छा जाता है। विकार दब जाते हैं, पर जड़-मूल से नष्ट नहीं होते। सत्संग का रंग थोड़ा भी फीका पड़ने पर, विकार पुनः उभर आते हैं तथा तुम्हें अपनी उपस्थिति का एहसास करवा देते हैं।

(२) अभी काफी लम्बे समय तक, ये विकार, तुम्हारे मन को छोड़ने वाले भी नहीं। अनेक साधक वर्षों से साधनरत हैं, क्रियाएँ भी अच्छी होती हैं,

सेवा भी करते हैं, भाव भी उत्तम है, फिर भी अभी तक मन के विकार मन में ही जमे बैठे हैं। हमें देखो ! सारा जीवन साधन में ही बिता दिया, फिर भी कई बार विकार आकार अपना अस्तित्त्व जता जाते हैं । युगयुगान्तरों से डेरा जमाए, इतनी जल्दी मन में से डेरा उठाने वाले भी नहीं । सत्ता-साम्राज्य आसानी से कौन छोड़ता है ? तुम यत्न कर सकते हो, भगवान को सहायता के लिए पुकार सकते हो, प्राणायाम, जप, पाठ कर सकते हो, पर विकार मन से अभी जाएँगे नहीं । तुम उन्हें दबाओगे, तो वे तुम्हें और भी अधिक दबाएँगे । तुम मन में सत्त्वगुण भरने का प्रयत्न करोगे तो वे सत्त्वगुण को बाहर निकालने का प्रयत्न करेंगे । इसलिए ऐसा मार्ग अपनाना होगा, जिससे जब तक मन में विकार रहें, उपद्रव न करें ।

(३) क्रिया-साधना में भी बड़ी सावधानीपूर्वक रहने की आवश्यकता है। क्रियाओं का काम संस्कारों को उभारना, उदार बनाना तथा चित्त में क्रियात्मक रूप प्रदान करना है । सत्त्वगुणी संस्कार की सत्त्वगुणी क्रिया तथा रज-तम की रज-तमात्मक क्रिया होगी । विकारयुक्त संस्कारों की विकारात्मक क्रिया होगी। क्रियाओं का उद्देश्य मन को निर्मल बनाना है, किन्तु कई बार विकारात्मक क्रिया होने पर, साधक उसे सहन नहीं कर पाता तथा लुढ़क जाता है, विकार को समर्पित हो जाता है । क्रिया चित्त-शुद्धि के लिए होती है पर साधक कहीं अधिक संचय कर लेता है, अतः क्रिया-साधन बड़ी सावधानी की अपेक्षा रखता है ।

(४) विकारों को ही साधन बनाकर, तुम विकारों को समाप्त करने की ओर आगे बढ़ सकते हो । इसमें विकारों को समाप्त करने के प्रयत्न के स्थान पर उनके प्रवाह की दिशा को साधनाभिमुख मोड़ देना होगा । क्रोध आए तो अपने दोषों पर करो । श्रृंगार करना हो तो या तो भगवान का करो या अपने मन को सद्‌गुणों से सजाओ । राग उदय हो तो प्रभु से प्रेम करो । मन में लोभ आ जाय तो प्रभु-कृपा प्राप्ति का लोभ सर्वोत्तम है । जब अपने विकारों का इस प्रकार उपयोग करने लगोगे तो वे बाधक नहीं होकर साधक हो जाएँगे । फिर तुम विकारों से भी प्रेम करने लगोगे ।

(५) एक और उपाय है जो अपनी प्रणाली में प्रचलित है । जिसे या तो तुम अभी समझ नहीं पाए या भूल गए हो । विकारों से लड़ना नहीं, केवल उन्हें देखते रहना। जिस प्रकार अन्य क्रियाओं को द्रष्टाभाव से देखते रहते हैं, उसी प्रकार विकारयुक्त क्रिया को भी । यह मैं फिर याद करवा दूँ कि क्रियाएँ शुद्धि के लिए हैं। यदि घर में कचरा भरा है, तो सफाई करते समय कचरा ही बाहर निकलेगा । इसलिए विकारयुक्त क्रिया से न घबराना, न बचना, न नहीं होने की

कामना करना, न रोकना। क्रिया से दूर रहकर, बिना किसी प्रयास के केवल देखते रहना। विकार की क्रिया भी शांत हो जाएगी तथा तत्संबंधी संस्कार भी क्षीण हो जाएगा। विकारयुक्त तामसिक क्रियाओं का भी वही फल है जो सात्त्विक का है अर्थात् चित्त शुद्धि। सत-रज-तम त्रिगुणात्मक दृष्टिकोण है, क्रिया घटित करने वाली शक्ति तीनों गुणों से अतीत है। शक्ति के कोण पर खड़े होकर देखा जाय तो सभी क्रियाएँ, गुणों के आधार पर, शक्ति का खिलवाड़ हैं। अध्यात्म दृष्टि से जैसे तम अशुद्धि है वैसे ही सत् भी अशुद्धि है, अतः सभी प्रकार की क्रियाओं को, क्रियाओं से भिन्न रहकर देखते रहना उपाय है। यह उपाय, साधन समय का समर्पण भावयुक्त है। जबकि उपर्युक्त पूर्व कथित उपाय, साधनेतर, कर्त्तत्वाभिमान युक्त हैं।

(६) तुम अपने अन्दर में विकार उदित एवं विकसित तो कर सकते हो, क्षीण नहीं। जीव का कार्य अन्दर बाहर गन्दगी फैलाना है। शुद्धता, पवित्रता, निर्मलता नहीं। यह गुण आत्म तत्त्व के हैं, उसी के निर्मल प्रकाश में शुद्धिकरण का निर्मल कार्य सम्पन्न हो सकता है। यही जीव तथा आत्मा में अन्तर है। जीव यदि शुद्धिकरण का प्रयत्न करता है तो यह उसका मिथ्या अभिमान है। उत्तर यही है कि जिसका काम उसी को करने दिया जावे। जितना ही अधिक हस्तक्षेप किया जाएगा, उतनी ही अधिक देर लगेगी। अतः अपने अहम् को एक ओर खड़ा कर दो, केवल देखने के लिए। चैतन्य को यह कार्य करने दो।

"या तो साधक सीधा-सादा, भावुक, भक्तवृत्ति हो, अपने आपको अनावश्यक तर्क-वितर्क तथा वाद-विवाद में नहीं उलझाए, वह समर्पण भाव से साधन में लगा रह सकता है। जिन साधकों को बौद्धिक खुजली होती है, हर बात पर तर्क से विचार करने का स्वभाव है, उनके लिए शंकाओं का निवारण आवश्यक है, अन्यथा शंकाएँ मन में, अन्दर ही अन्दर, पनपती रहती हैं तथा एक दिन साधन को भी चौपट कर देती हैं, अतः यदि तुम इन बातों पर गहराई से विचार करो तो विषय स्पष्ट हो जाएगा। तुम समझ ही गए होगे कि विकारों से युद्ध करना शक्ति तथा समय का अपव्यय है, जितना दबाओगे, उतने ही विकार अधिक उछलेंगे। विकारों के वेग को सहन करो, उनके प्रति समर्पण नहीं। समर्पण करना है तो अन्तर्जाग्रत शक्ति के प्रति करो, जो माता के समान हितकारी है। पिता के समान पालक है, गुरु के समान ज्ञानदाता एवं मार्गदर्शक है। यही साधन है।"

"महाराज जी", मैंने कहा, "जब आप नेपाल में थे तो साधकों की बातचीत सुनने का काफी अवसर प्राप्त होता था। कुछ साधकों ने बताया कि उनके संपर्क में आने पर कई लोगों को क्रियाएँ आरंभ हो गईं। इसे वे अपने साधन की उपलब्धि मानते हैं तथा अपनी अवस्था बहुत ऊँची बतलाते हैं।

आपका क्या मत है ?'' महाराजश्री बोले, ''यह शक्ति की क्रियाओं पर नियंत्रण का अभाव है । जैसे पात्र में से चलते समय जल छलक जाता है, उसी प्रकार शक्ति भी संक्रमित होती रहती है । परिणाम यह होता है कि साधक ऊपर नहीं उठ पाता । शक्ति ऊपर चढ़ने के स्थान पर बाहर बिखरती रहती है । साधक के लिए यह अवस्था विचारणीय एवं चिन्तनीय है। जो ऐसा साधक, अपनी अवस्था को उच्च मानता है तथा अपनी उन्नति पर संतुष्ट है, वह भूल करता है। अपनी साधन की कमाई को लुटाता फिरता है । कुछ समय के पश्चात् उसकी अपनी क्रियाओं के भी बन्द हो जाने की संभावना होती है । शक्ति जितना नियंत्रित चलती है, उतनी ही ऊपर चढ़ती है ।

''इस संक्रमण का एक यह कारण भी हो सकता है कि साधक में गुरु बनने की जिज्ञासा है । यह वृत्ति साधक के लिए बड़ी घातक है । अभी अपना तो कुछ बना नहीं, दूसरों को राह दिखाना भी आरम्भ कर दिया । गुरु-पद, कोई पूजा करवाने या धन कमाने के लिए नहीं होता, अपनी उन्नति के साथ-साथ दूसरों की भी उन्नति के लिए होता है । गुरु में गुरुपन का अभिमान अवनति का कारण होता है, जिसमें गुरु बनने से पूर्व ही गुरु बनने की इच्छा हो, उसमें गुरु बनने पर अभिमान आ जाना स्वाभाविक है । परिणामत: संक्रमण होने लगता है ।''

मैंने कहा, ''किन्तु दूसरे लोगों का कल्याण का मार्ग तो खुल जाता है !'' महाराजश्री ने कहा, ''नहीं खुलता । जब साधक की अपनी शक्ति ही अनियंत्रित रूप से गतिशील है, तो दूसरे को नियंत्रण कैसे प्रदान कर सकता है ? कुछ दिनों के पश्चात् ही दूसरे लोगों की गतिशीलता भी बन्द हो सकती है, क्योंकि वह जाग्रत होती ही नहीं, केवल किसी व्यक्ति की क्रियाओं का अस्थायी प्रभाव होता है, किन्तु साधक इतने से ही अपने को उन्नत साधक मान बैठता है ।

''साधन का विषय अत्यन्त सूक्ष्म है । भावुक तथा भोला-भाला साधक तो अपनी भावना तथा श्रद्धा के बल पर उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ता जाता है, पर बुद्धिवादी साधक को, इन सूक्ष्मताओं को समझ लेना आवश्यक है । यहाँ पग-पग पर फिसलन है, पल-पल संकट है तथा हर मोड़ पर भटक जाने का भय है । साधक को बड़ी सावधानीपूर्वक आगे बढ़ना होता है ।

''दीक्षा के द्वारा शक्ति-जाग्रति प्राप्त करने पर, शक्ति की क्रियाएँ गुरु संकल्प के नियंत्रण में विकसित होती हैं, अन्यथा अनियंत्रित क्रिया का विकास होने लगता है। गुरु संकल्प में यदि कभी दुर्बलता हो, तो क्रिया अनियंत्रित हो सकती है । यह गुरुओं के सोचने का विषय है । साधक यदि अपने साधन में थोड़ा नियंत्रण पर भी लक्ष्य रखे, तो क्रिया को नियंत्रित रख सकता है । साधक

शक्ति पर नियंत्रण तो नहीं कर सकता, क्योंकि शक्ति स्वतंत्र है, किन्तु उसकी क्रियाओं पर अवश्य नियंत्रण कर सकता है, क्योंकि क्रियाओं का आधार अपने मन के संस्कार ही होते हैं, किन्तु नियंत्रण को क्रिया के विकास में बाधक भी नहीं बनने देना चाहिए । साधन-समय अपने आपको शिथिल छोड़ देना चाहिये। यदि क्रिया काबू से बाहर तीव्र हो जाए, तभी नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है । यदि शिष्य-साधक स्वयं यह काम नहीं कर सकता हो तो, गुरु से सम्पर्क करना चाहिये । कई गुरु ऐसे भी हैं, जो दीक्षा दे देते हैं, किन्तु क्रिया अनियंत्रित हो जाने पर, नियंत्रित नहीं कर पाते । दीक्षा देना आग से खेलने के समान है।अन्ततः तो क्रिया को सौम्यता में आना है, तभी आनन्दानुभूति होगी।''

महाराजश्री व्यवहार को भी साधन ही मानते थे । व्यवहार ही मनुष्य को साधन-विमुख करता है तथा व्यवहार ही साधनाभिमुख । व्यवहार ही मन में आसक्ति पैदा करता है, व्यवहार ही निरासक्त बनाता है । व्यवहार ही साधन का द्वार है, जिसमें प्रवेश किए बिना साधन संभव नहीं । जब कोई व्यवहार की निन्दा करता है, उसे त्याज्य बतलाता है, उसका भाव आसक्ति-अहंकारयुक्त व्यवहार का त्याग होता है । अशुद्ध व्यवहार अपने आप कभी भी नहीं छूट पाता । कोल्हू के बैल की तरह जीव इसमें चक्कर खाता ही रहता है, किन्तु शुद्ध व्यवहार मन की मलिनता समाप्त हो जाने पर अपने आप छूट जाता है । फिर यदि कोई व्यवहार करता भी है तो वह दुखदायी तथा बंधनकारक नहीं होता । वैसे भी प्रारब्ध-मुक्त होने के लिए व्यवहार में उतरना ही पड़ता है, रजोगुण के शमन के लिए भी व्यवहार ही उपाय है । सेवाभाव के लिए भी व्यावहारिक क्षेत्र की आवश्यकता है । गुरु शिष्य संबंध में भी परस्पर व्यवहार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है । व्यवहार के बिना शरीर रक्षण भी संभव नहीं । भाव यह है कि व्यवहार की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

किन्तु सांसारिक मनुष्य को व्यवहार करना आता नहीं । वह अध्यात्मविमुख होकर व्यवहार में प्रवृत्त होता है । व्यवहार को ही सर्वस्व समझ बैठता है । उसका व्यवहार साधन नहीं, साध्य होता है । उसमें आसक्ति, मोह, राग-द्वेष तथा अभिमान का समावेश हो जाता है । वह कर्म करने का तथा कर्मफल प्राप्त करने का सारा उत्तरदायित्त्व अपने कंधों पर उठा लेता है । वह यह भी भूल जाता है कि जगत् को नियंत्रित तथा परिचलित करने वाली कोई सर्वव्यापक शक्ति भी है । वह योजनाएँ बनाता तथा उन्हें सफल बनाने का अनथक परिश्रम करता है ।

यदि मनोनुकूल फल प्राप्त हो जाए तो फूला नहीं समाता तथा उसका श्रेय अपनी योग्यता तथा परिश्रम को देता है । यदि मनोनुकूल फल प्राप्त न हो, तो

दुखी हो जाता है तथा भगवान के माथे दोष मढ़ देता है । उसका प्रत्येक कर्म मन को मलिन करता है । वह कर्म करने को ही कर्मयोग समझता है । वह क्षमता से अधिक की योजनाएँ बनाता है तथा जिसके योग्य नहीं होता, ऐसी कल्पनाएँ करता है । धर्माधर्म विवेक उसके समीप विलासिता है ।

इसके विपरीत एक साधक का व्यवहार इससे सर्वथा भिन्न होता है । वह व्यवहार को साधन के रूप में ग्रहण करता है । केवल कर्त्तव्य कर्म ही करता है, अकर्त्तव्य को तिनके के समान त्याग देता है । समक्ष आए सुख-दुख को विधि का विधान मानता है तथा उसमें समस्थिति रखता हुआ, मन को प्रभावित नहीं होने देता। किसी भी काम को एकाग्र होकर करता है, किन्तु छोड़ देने पर, मानसिक एवं शारीरिक, दोनों प्रकार से निवृत्त हो जाता है । कभी भी बुरे अथवा अनावश्यक संकल्प नहीं करता । व्यवहार को सेवा भाव से ही करता है । कैसी भी परिस्थिति होने पर कभी विचलित नहीं होता । उसका व्यवहार भी भगवान की पूजा ही होता है। वह प्रत्येक कर्म पवित्रतापूर्वक सम्पन्न करता है । व्यवहार करते समय उसके मुख पर प्रसन्नता खेलती रहती है ।

महाराजश्री कर्म के मर्म को भी समझते थे तथा मानव कौन से धरातल पर खड़ा है, इसको भी जानते थे । उसे कहाँ से उठना, कैसे उठना तथा उठते समय क्या-क्या सावधानी लेना, इससे भलीभाँति अवगत थे । वह इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि सामान्य मनुष्य एकदम, अनासक्त की ऊँची चोटी पर चढ़ पाने में असमर्थ है। साधन तथा कर्म का सामंजस्य जमा पाने में अक्षम है । उसे धीरे-धीरे एक-एक स्तर ऊपर उठना होगा । सावधानीपूर्वक सँभल-सँभलकर बढ़ना होगा । किसी घाव की पट्टी करवाते समय मनुष्य हाय-हाय करता है, संभवतः साधक भी, उसी प्रकार कर्त्तव्य कर्म से अपने आपको बचाने का प्रयत्न करे, पर उसे रास्ते पर लाना ही गुरु कार्य है । इसलिए गुरु का उत्तरदायित्त्व बहुत बड़ा है ।

महाराजश्री का समझाने का ढंग भी अद्वितीय था । वह सामान्य सी लगने वाली बात को आधार बनाकर, इतनी बड़ी बात कह जाते थे कि सुनने वाले को विषय एकदम स्पष्ट हो जाता था । श्रोता सोच भी नहीं सकता था कि इतनी छोटी-सी घटना में इतना रहस्य छुपा हो सकता है । जैसे आश्रम में कुछ फलदार वृक्ष लगे हुए थे । आम, चीकू, फालसा, नीम्बू इत्यादि । जो दर्शनार्थी आते थे, वे तोड़कर ले जाने का प्रयत्न करते थे । आश्रमवासी इस पर आपत्ति करते, कई बार कुछ कहा-सुनी भी हो जाती थी । एक बार ऐसा ही कुछ प्रसंग उपस्थित हो गया । आश्रमवासियों ने आपत्ति की, तो झगड़ा खड़ा हो गया । मारपीट तक की नौबत तो नहीं आई, किन्तु गर्मागर्मी काफी हो गई । महाराजश्री

अपने कमरे में थे । शोर सुना तो बाहर निकल आए । उनके आते ही बात समाप्त हो गई ।

बाद में आश्रमवासियों को समझाते हुए कहा, "आप जब उन लोगों को फल तोड़ने के लिए मना करते हो, तो पहले से ही आवेश में आ जाते हो तथा बात बढ़ जाती है । उन लोगों की गलती तो है ही, पर आपकी कम नहीं । आप भूल जाते हो कि आप सामान्य संसारी नहीं, आश्रमवासी हो, सामान्य लोगों से भिन्न । देखो हमने फलदार वृक्ष कोई फल के लिए तो लगाए नहीं । भगवान वैसे ही हमें फल भेज देते हैं । हमने सौंदर्य तथा शोभा के लिए वृक्ष लगाए हैं। यदि लोग तोड़ते भी हैं तो फल ही तो तोड़ते हैं । सौंदर्य तथा शोभा तो नहीं बिगाड़ते । सौंदर्य तथा शोभा से भी आसक्त हो जाना कल्याणकारी नहीं । कल को यदि कोई आकर वृक्ष को ही काट जाए, तो आप उससे झगड़ा तो कर सकते हो, वृक्ष नहीं लौटा सकते । गई हुई शोभा नहीं लौटा सकते, फिर यह झगड़ा ही किसलिए ? मन का विक्षेप किसलिए ? यदि कहा-सुनी हो भी जाए तो वह इस प्रकार करो जिससे न आपके चित्त में विक्षेप हो, न ही दूसरे का चित्त ही प्रभावित हो । अभी आप अपने चेहरे को देखें, उस पर आपके हृदय का क्रोध किस प्रकार तथा कितना परिलक्षित हो रहा है । जीवन दुखी होने के लिए नहीं है ।"

फिर समझाते हुए कहा, "इस उदाहरण में कर्म करने का ढंग निहित है। आप आश्रमवासी हैं, एक प्रकार से विरक्त । जगत् के समक्ष कर्म का रहस्य प्रकाशित करना आपका कर्त्तव्य है । अनावश्यक कर्म कुकर्म हो जाता है । या तो कोई काम किए से, कोई काम सुधरता हो, अन्यथा यह कर्म अनावश्यक है। यदि आप कहें कि कर्म करना हमारा कर्त्तव्य है, परिणाम पर लक्ष्य रखना नहीं, तो आसक्तियुक्त कर्म कर्त्तव्य नहीं है । आसक्ति होने से लक्ष्य परिणाम की ओर चला ही जाता है । यह झगड़ा करना भी अनावश्यक ही है, जिसमें आसक्ति की गंध आती है । विक्षेप के अतिरिक्त इसमें मिलने वाला कुछ नहीं । मनुष्य इसी प्रकार अनावश्यक कर्मों में अपना समय गँवाता रहता है । संस्कार संचय करता रहता है तथा काल-चक्र में घूमता रहता है । यह ठीक है कि कर्त्तव्य कर्म का पालन आत्म-स्थिति प्राप्त नहीं करा सकता, किन्तु उसके योग्य चित्त का निर्माण तो कर सकता है । कर्म ही ऐसी शीतलता है जो वासना रूपी अग्नि को शान्त कर सकती है । कर्म एक ऐसे सूर्य के समान है, जो अंधेरे घर में उजाला कर देता है । कर्म ही कर्म को काटता है । इसलिए कर्म का शुद्ध सात्त्विक, आध्यात्मिक स्वरूप, साधक के समक्ष प्रत्यक्ष होना आवश्यक है ।"

मैं सब, चुपचाप बैठा सुन रहा था । फिर मैंने पूछा, "शास्त्रों तथा संतो ने जगत् को मिथ्या कहा है, इसलिए मिथ्या जगत् में किया जाने वाला प्रत्येक

कर्म भी मिथ्या ही हुआ । फिर कर्म की इतनी बड़ाई किसलिए ?'' महाराजश्री बोले, ''तुमने ठीक कहा । यदि यह जगत् मिथ्या है, तों इसमें घटित होने वाली प्रत्येक घटना, बोला जाने वाला प्रत्येक वचन तथा किया जाने वाला प्रत्येक कर्म मिथ्या है, किन्तु यह मिथ्यात्त्व, मिथ्यात्त्व को समाप्त करके मिथ्या होता है । यह कल्पना भंग होने पर, कल्पना को विलीन कर देती है । यह स्वप्न ऐसा है जो टूटने से पहले, स्वप्न के कारण को मिटा देता है । कर्म मिथ्या होते हुए भी मन निर्मलता का कारण हो सकता है । जिस प्रकार हृदय के भाव उभरे बिना, भावातीत अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार कर्म किए बिना, कर्म से अतीत अवस्था भी प्राप्त नहीं हो सकती । अभिमानजनित, चित्त के संस्कारों का विलीनीकरण भी नहीं हो सकता ।

''कल्पना को कल्पना से समाप्त किया जा सकता है । इस बात को इस प्रकार भी समझ सकते हो कि यदि जगत् मिथ्या है तो यह आश्रम, यह फलदार वृक्ष, लोगों का फल तोड़ना, यह कहा-सुनी, यहाँ हो रही चर्चा, यह भी सब मिथ्या है, फिर यह विक्षेप क्यों ?

''एक बात समझो । अद्वैत का सिद्धान्त अपनी जगह ठीक है, किन्तु कर्म तथा साधन के सभी नियम द्वैत पर ही खड़े हैं, अर्थात् द्वैत में साधन करते हुए ही अद्वैत को प्राप्त करना है । जीव द्वैत में है, अद्वैत की चर्चा यदि चर्चा तक ही सीमित रहे तो केवल बुद्धि विलास है । कर्म तथा साधन करते हुए ही, मन की निर्मलता सम्पादित होने पर, द्वैत का भ्रम विलीन होता है । यदि आरम्भ में ही, चित्त मलिन होने पर भी, मिथ्यात्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया तो साधन भी मिथ्या हो जाएगा जो कि अद्वैत स्थिति के लिए अनिवार्य है ।

''तुम्हें भूख लगती है तो तुम भोजन की ओर लपकते हो । भूख का लगना तथा भोजन का करना दोनों मिथ्या हैं, परन्तु भूख की निवृत्ति भोजन करने से ही होती है। इसी प्रकार चित्त में जो संस्कार एकत्रित हो गए हैं तथा जो रजोगुण विकसित हो चुका है, उसकी निवृत्ति भी शुभ कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा ही सम्भव है । हम संस्कारों, वासना तथा मन की मलिनता की अनदेखी नहीं कर सकते, उन्हें मिथ्या कहकर उनकी उपेक्षा नहीं हो सकती, अन्यथा भ्रम बना रहेगा तथा हम द्वैत में ही पड़े रहेंगे।

''देखो ! केवल बातों से काम नहीं चलता । यदि कर्म से छुटकारा चाहते हो, तो कर्म करो, किन्तु सेवा-भाव से, कर्त्तव्यबुद्धि से करना पड़ेगा। प्रवृत्ति से ही निवृत्ति उदय होती है, भोजन किए बिना क्षुधा-निवृत्ति नहीं होती । जागने पर ही नींद टूटती है । समस्या यह है कि अधिकांश लोग कर्म के शुद्ध स्वरूप को नहीं समझते । कोई कर्म को बंधन का कारण मानता है, कोई केवल कर्म

करने को ही कर्म मानता है, तो कोई कामनाओं से युक्त होकर आसक्ति-युक्त कर्म करता है ।''

दीक्षा लेने के पश्चात् कुछ दिन तो मैं आश्रम में रहा, फिर एक दिन यह विचार आया कि ४-५ महीने यहाँ रहते हो गए हैं, अतः अधिक समय तक आश्रम पर बोझ बने रहना उचित नहीं । देवास आने से पूर्व हिमाचल प्रदेश में जहाँ कुटिया बनाकर रह रहा था, वह स्थान तो दृष्टि में था ही । वैसे भी मुझे पर्वतीय स्थान बहुत पसंद हैं । स्थान-स्थान पर पानी के झरने, टेढ़ी-मेढ़ी नदियाँ तथा रास्ते, ऊँची-नीची हरियालियाँ अभी भी मन को मोहित किए हुए थीं । वहाँ रहते हुए जिस अलौकिक मानसिक आनन्द का अनुभव किया था, वह भी बार-बार याद आकर मन को छू जाता था, अतः यह विचार मन में था ही कि यहाँ से जाने के पश्चात् किसी पर्वतीय स्थान पर ठहरकर एकान्तवास करते हुए, साधनामय, त्यागमय निर्विघ्न जीवन व्यतीत करूँगा । एक दिन उपयुक्त अवसर देखकर, महाराजश्री से इस प्रकार निवेदन किया, "मैं दीक्षा लेने के विचार से दस-पंद्रह दिनों के लिए देवास आया था, किन्तु उस समय आप नेपाल गए हुए थे, जिससे मुझे यहाँ दो महीने तक प्रतीक्षारत् रहना पड़ा। वापिस आने के एक महीना पश्चात् आपने दीक्षा की कृपा की । अब दीक्षा हुए भी दो महीने से अधिक व्यतीत हो गए हैं । इसलिए अब मैं आपसे जाने के लिए अनुमति की प्रार्थना करता हूँ ।''

महाराजश्री ने पूछा कि कहाँ जाओगे तो मैंने कहा कि किसी उपयुक्त स्थान पर रहकर साधन करूँगा । अभी स्थान का निश्चित निर्णय तो नहीं किया है, संभवतः हिमाचल प्रदेश में कहीं जगह देखूँगा । इस पर महाराजश्री ने कहा, "क्या यह जगह साधन के उपयुक्त नहीं है ?'' इस पर मैंने कहा, "यह स्थान तो सर्वोत्तम है, गुरु महाराज विराजमान हैं, बहुत कुछ एकान्त भी है, सब प्रकार की सुविधा है, साधन के लिए गुफा है । इससे बढ़िया स्थान और कौन-सा होगा ? किन्तु इस संकोच से कि लोग ऐसा न सोचें कि इतने दिनों से आश्रम पर बोझ बनकर पड़ा है, मैंने जाने का विचार किया है । वैसे आपकी चरण-सेवा के लिए मेरी सेवाएँ सदैव उपलब्ध रहेंगी। आपकी एक ही आवाज पर भागा चला आऊँगा ।'' तब महाराजश्री ने कहा, "लोग कहेंगे ! कौन लोग? आश्रम लोगों का तो नहीं है । हम यहाँ निवास करते हैं, हम जिसे चाहेंगे, रखेंगे। इसमें संकोच की कोई बात नहीं ।'' मैंने फिर निवेदन किया, "एक बात और है । यहाँ एकान्त तो है, परन्तु फिर भी, ऐसा एकान्त नहीं कि कोई आए ही नहीं । कुछ न कुछ लोग तो आते ही हैं । लोग आते हैं तो कुछ इधर-उधर की बातें भी करते हैं । उससे मन चंचल हो सकता है । मेरा मन करता है कि मेरी वृत्ति अखण्ड बनी रहे ।'' इस पर महाराजश्री ने कहा, "यह तुम्हारी भूल

है। केवल बाह्य वातावरण से ही मन चंचल नहीं होता, अन्तर के संस्कार तथा वासनाओं का भी हाथ होता है। सच पूछा जाए तो चंचलता का मुख्य कारण अंतर में ही है। तुम एकदम निवृत्ति में जाना चाहते हो, पर जा नहीं पाओगे। व्यवहार में से निकलते हुए ही कि अखण्ड वृत्ति प्राप्त होती है। मैं जो देख रहा हूँ कि तुम अभी निवृत्ती में टिक नही पाओंगे, इसलिए उत्तम यही है कि कुछ निवृत्ती व कुछ प्रवृत्ति का मार्ग अपनाओ। यहाँ दोनों स्थितियाँ उपलब्ध हैं। जन-समाज में रहकर, निवृत्ती का अभ्यास अधिक फलदायी होता है।

''यदि तुम स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज का आदर्श अपने सामने रखते हो, तो आदर्श रूप में वह ठीक है। भविष्य में जब कभी तुम्हारी वैसी मनः स्थिती निर्मित हो जाएगी, तब तुम भी, यदि चाहो तो वैसा कर सकते हो, परन्तु अभी तुम्हें उसके लिए बहुत तैयारी की आवश्यकता है। हिमाचल प्रदेश में तुमने जिस मानसिक आनन्द का अनुभव किया है, वह भी अधिक समय तक चलने वाला नहीं था। अन्तर के संस्कार, कभी भी उदय तथा कार्यशील होकार, उस आनन्द को भंग कर सकते थे। अभी अपने मन के साथ खिलवाड़ न करो। धीरे-धीरे सेवा-साधना से मन को पहले शुद्ध करो, तैयार करो, फिर चाहे प्रवृत्ति में रहो, चाहे निवृत्ती में।''

महाराजश्री के आदेश तथा उपदेश की मैं अनदेखी न कर सका। मन में ऐसा विचार किया कि एक वर्ष तक श्री गुरुचरणों में रहकर, सेवा - लाभ कमाया जाए, संभवतः इसी में मेरा कल्याण है। यह बात तो कालान्तर में ही समझ में आई कि ऐसा निर्णय करना भी, मेरा अहंकार ही था।

जब अपने आपको, एकबार गुरुचरणों में, अर्पित कर दिया तो अपने मन में स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार ही कहाँ रहा। समर्पण पर विचार किया जाए तो बात बहुत दूर तक जाती है। मनुष्य समर्पण भी करना चाहता है तथा अपने अहम् को भी बचाकर रखना चाहता है। साधन में भी ऐसा ही होता है। मानसिक हस्तक्षेप से कोई कहाँ बाज आता है।

जो भी हो, उस समय मेरा यही निर्णय था श्रीचरणों मे रहकर सेवा करना। मुझे जन-समाज में रहने तथा व्यवहार करने कोई अभ्यास नही था। युग बड़ा भयानक है। लोग मीठे बनकर छुरी चलाने में सिद्धहस्त हैं। स्वार्थ तथा अभिमान का चारों ओर साम्राज्य है। ऐसे में किसी से बात करने में भी डर लगता है। कैसे निभ पाऊंगा ? वैसे महाराजश्री का सात्त्विक प्रभाव आश्रम पर आच्छादित था। जगत् मे व्याप्त बहुत सारे अवगुण यहाँ आकर दब से जाते थे, फिर भी युगप्रवाह को कौन मोड़ सकता है? एक ओर महाराजश्री के सेवा - सानिध्य का लोभ तथा दुसरी ओर जन-सम्पर्क के कारण उदय होने.

वाली समस्याओं की संभावना का भय । आश्रम पर अधिकांश लोग गुरु-मुख ही थे, पर फिर भी कुछ मन-मुख भी थे ही ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उस समय आश्रम का आकार बहुत छोटा था, आने-जाने वाले लोग भी अधिक नहीं थे, परन्तु इससे क्या अन्तर पड़ता है । जहाँ एक से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं, वहाँ कोई न कोई विवाद उठ खड़ा होने की संभावना होती है, फिर यहाँ तो कई लोगों का आना-जाना था । जगत् सभी जगह एक समान है । कोई भी संस्था, संगठन, घर, दुकान या कार्यालय हो, सभी जगह राग-द्वेष, उखाड़-पछाड़, स्वार्थ भरी चालें होती हैं, किन्तु महाराजश्री ने मेरे कल्याण की भावना से अभिभूत होकर यहीं रुकने का आदेश दिया है, तो इसमें अवश्य ही मेरा मंगल होगा ।

अब जबकि आश्रम में मुझे रहना ही है तो यह आवश्यक है कि अपनी दिशा-निर्देशिका तय कर लूँ । अब तक यहाँ रहते हुए छः महीने के लगभग हो चुके थे । आश्रम की गतिविधियों से परिचित होने के लिए इतनी अवधि पर्याप्त थी । लोग साधन अवश्य करते थे, किन्तु मन की मलिनता इतनी जल्दी पीछा कहाँ छोड़ती है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार अन्दर ऐसे जम के बैठे हैं कि मन को चंचल कर, अपने पीछे लगा लेते हैं तथा जगत् में ही भटकाते रहते हैं । यह ठीक है कि अब तक मैंने अपने आपको यहाँ राग-द्वेष से मुक्त रखने का प्रयत्न किया था तथा श्री गुरुकृपा से बहुत कुछ सफल भी रहा था । मैं सबकी सुनता, किन्तु स्वयं मौन साधे रहता । अब मेरे सामने प्रश्न यह था कि यहाँ एक वर्ष का समय व्यतीत करना है । गुरु-सान्निध्य का आनन्द मेरे लिए अधिक आकर्षक था । उसी के लिए मैंने एकान्तवास के आनन्द की उपेक्षा कर दी । एकान्तवास के लिए सारा जीवन पड़ा था ।

अब मेरे सामने यह समस्या थी कि अपना रहन-सहन किस प्रकार का रखा जाए जिससे मैं किसी झमेले में न उलझूँ । गहन चिन्तन तथा विचार के उपरान्त मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि सर्वप्रथम मुझे अपने नियम बना लेने चाहिए । किन-किन बातों का ध्यान रखना है, किन बातों से बचना है तथा क्या-क्या करना है । नियम निश्चित हो जाने पर दृढ़तापूर्वक उनका पालन करना होगा, निम्नलिखित नियम तय किए गए ।

(१) अपने आपको अधिक से अधिक सेवा-कार्य में ही व्यस्त रखना होगा । एक तो खाली दिमाग शैतान का घर होता है । उसको फालतू की बातें ही सूझती हैं। दूसरे लोगों द्वारा की जाने वाली निन्दा-बुराई के सुनने से बचा रहूँगा । यदि मुझसे किसी को कोई बात करना भी हो, तो उसे कुछ प्रतीक्षा करना होगी, क्योंकि मैं अपने काम में व्यस्त रहूँगा तथा सेवा कार्य से मुक्त होने

पर ही बात सुन सकूँगा । इस प्रकार मैंने अपने आपको अनावश्यक वातावरण से मुक्त रखने की व्यवस्था कर ली ।

(२) जहाँ कोई विवाद, कहा-सुनी या झगड़ा हो, वहाँ से तत्काल दूर हट जाना । ऐसे अवसर पर यदि कोई एक शब्द भी नहीं बोले, किसी के भी पक्ष अथवा विपक्ष में हस्तक्षेप नहीं करे, तो भी नहीं बोले, किसी के भी बुलाया जा सकता है । स्पष्ट है कि साक्ष्य, किसी के पक्ष में होगी, किसी के विपक्ष में । जिसके भी विपक्ष में । उसे कभी भी बुलाया जा सकता है । स्पष्ट है कि स्पष्ट है साक्ष्य, किसी के पक्ष में होगी, किसी के विपक्ष में । जिसके भी विपक्ष में होगी, वह तो विरोधी हो ही जाएगा । उत्तम सही है कि ऐसे अवसर पर खिसक लिए जाए।

(३) निन्दा, इधर की उधर, उधर की इधर तथा लोगों को एक- दूसरे के विरुद्ध भड़काने में, मेरी पहले से ही रूचि नहीं थी । मुझे उस समय ही घटना याद है जब एक सज्ञन मेरे विरुद्ध बहुत बोलते थे । तब मैने कहा था , ''फिर आप में तथा मेरे में अन्तर ही की क्या रहा । मजा तो तब, है जब आप मेरे विरुद्ध बोले, तब भी मैं आपके विरुद्ध न बोलूँ, आपका आदर करूँ, आपसे पहले की तरह प्रेम करूँ ।'' यही नियम मैंने अब भी तय किया । ''किसी की न निन्दा सुनना, न करना'' इससे मुझे असुविधा तो हुई किन्तु मन शान्त बना रहा है। मैं मानता हूँ कि निन्दा करना - सुनना बहुत मीठा लगता है, इसमें बड़ा रस है, पर इसका परिणाम भयंकर है । इस नियम से कई क्षेत्रों में मेरी माँग कम हो गई ।

(४) किसी की चुगली न करना । मैं महाराजश्री की व्यक्तिगत सेवा में था । यदि चाहता तो किसी के भी बारे में, कुछ भी कह देने के मेरे पास बहुत अवसर थे । एक प्रकार से मैं लोगों तथा महाराजश्री के बीच संपर्क सूत्र था । साधकों की बातें भी मेरे सामने थीं । कुछ साधक, महाराजश्री से मेरी निकटता के कारण, मुझ से जलते भी थे, किन्तु फिर भी मैंने किसी की चुगली नहीं की । चुगली करने का अर्थ है किसी व्यक्ति को अपना शत्रु बना लेना । फिर हर व्यक्ति बात के असली कारण पर तो परदा डाल देता है तथा अन्य बातें ठीक हों या काल्पनिक, उन्हे उछालता फिरता है। अनावश्यक विवाद खड़े करता रहता है । कोई ऐसा व्यक्ति जिसने सेवा को अपना लक्ष्य बना लिया हो, उसके पास इतना समय ही नहीं होता कि अनावश्यक बातों का स्पष्टीकरण देता फिरे या उन बातों मे उलझता रहे । यद्यपि इतनी सावधानी बरतने पर भी, कभी-कभी अनवाश्यक विवाद खड़ा हो ही जाता था । जितना आप बचने का प्रयत्न करोगे, उतना ही अधिक आपको घेरता है, किन्तु इस नियम ने मुझे मानसिक संतोष दिया ।

(५) अनावश्यक वाद-विवाद से बचना । जहाँ लोग वाद-विवाद को व्यक्तिगत हार-जीत का प्रश्न बना लेते हैं, वह वाद-विवाद निरर्थक एवं अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि उचित-अनुचित का विवेक गौण हो जाता है। समझने भर के लिए, अपनी बात समझाने-मनवाने के लिए होता है पर हार हो जाने पर, विवादकर्त्ता किसी भी प्रकार बदला लेना चाहता है । इस प्रकार अनावश्यक शत्रुता पनप सकती है । किसी विषय को समझने के लिए सकारात्मक वाद-विवाद अनावश्यक नहीं । अनावश्यक वाद-विवाद समय की बरबादी है । सेवा-कार्य की हानि है तथा मन को दूषित करने का कारण है । ऐसे समय या तो उठकर चले जाया जाए या तत्काल हार स्वीकार कर ली जाए या फिर मौन धारण कर लिया जाए ।

(६) गुरु महाराज की इच्छा या आज्ञा के अनुसार पूरी तरह चलने का प्रयत्न करना । सभी गुरु-प्रसन्नता के लिए ही करना । यदि यह बात नहीं हो तो सेवा में रहने का कोई अर्थ ही नहीं । महाराजश्री से नम्रता से बात करना तथा उनका आशय समझने का प्रयत्न करना । गुरु महाराज के समक्ष भी तथा अनुपस्थिति में भी अक्षरशः आज्ञा पालन करना । गुरु महाराज यदि किसी से बात कर रहे हों तो बीच में नहीं बोलना, लोगों के समक्ष अपना महत्त्व स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करना । यदि कोई बात पूछी जाए तो उत्तर देने के लिए निकट ही उपस्थित रहना । जब महाराज जी जन समूह में विराजते हों, तो या तो उनके पीछे खड़े रहना या लोगों के पीछे सामने जाकर बैठ जाना । जब चल रहे हों तो उनके पीछे चलना, जिधर जाना चाहें उधर ही चल देना, जो काम जैसा करने को कहें वैसा ही कर देना, आगे से बहस नहीं करना, जब किसी बात पर डाँट पड़े तो चुपचाप सुन लेना ।

मेरा मन मलिन तो था ही । मलिनता से छुटकारा प्राप्त करने के लिए बड़े साधन की, बहुत कुछ सहन करने की तथा उदारता अपनाने की स्पष्टतः आवश्यकता थी । जिस प्रकार अपने हाथ से ही अपना सिर काट डालना आसान काम नहीं, कुछ उसी प्रकार का काम साधन का भी है । वास्तव में देखा जाय तो अहंकार रूपी सिर को काटना ही साधन है । जिसको अपना सिर बचाने की चिन्ता है, वह साधन का फलितार्थ प्राप्त नहीं कर सकता । मैं इस बात को जानता था, किन्तु अन्दर बैठा अभिमान आड़े आ रहा था । नियमों के अनुसार चलते हुए भी अन्दर कसमसाहट होती थी । यदि अभिमान को बाहर निकलने का अवसर नहीं मिलता तो वह अन्दर ही अन्दर हृदय को मथता रहता। मैं दुःखी हो जाता । कई बार मेरी कोई गलती नहीं होने पर भी तथा महाराजश्री की जानकारी में सारी बातें होते हुए भी, मुझे डाँट देते थे तथा किसी व्यक्ति से क्षमा-याचना के लिए कहते । गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर मैं क्षमा

तो माँग लेता किन्तु अन्तर से तिलमिला उठता था । मेरे अहम् पर चोट जो पड़ती थी और संभवत: मेरे मन पर चोट करना ही महाराजश्री का उद्देश्य भी था । महाराजश्री के लिए अपने मन की बात, लोगों पर व्यक्त करना आवश्यक भी नहीं था। गुरुओं की बातें गुरु ही जानें । मलिन-चित्त होने से लोग उनकी बात का अन्यथा अर्थ भी ले सकते थे ।

नियम बना तो लिए, पर उन पर चलना अत्यन्त ही कठिन कार्य था। लोग किसी को उसके नियमों, भावनाओं तथा परिस्थितियों के आधार पर नहीं तौलते, अपनी भावना के चश्में से देखते हैं, अपने विचार से नापते हैं । जो साधक जन-सम्पर्क में हो तथा सबकी सेवा में लगा हो, उसे बहुत ही कठिनाई आती है । मैंने बार-बार अपने मन की क्षमता, सहनशीलता तथा सामर्थ्य को तौला । अन्तत: नियमों को अपना लेने का निश्चय किया । यदि चलूँगा नहीं तो पहुँचूँगा कैसे ! कभी न कभी तो आरंभ करना ही पड़ेगा । यदि कभी कुछ भूल हो गई तो डाँट ही पड़ेगी न, उसमें भी मेरा कल्याण होगा । वैसे इन नियमों में से कई बातें पहले से ही मेरे में प्रस्थापित थीं, जो नहीं थीं, उनके लिए प्रयत्न करना था । यूँ तो मैंने इस शताब्दी के अन्तिम दशक के आरंभ में भी कुछ नियम बनाए थे, जिनका यहाँ उल्लेख करना, अप्रासंगिक होगा । आज के स्वार्थी युग में इन नियमों पर चलने में कठिनाइयाँ बहुत आती हैं, मुझे भी आईं, किन्तु श्री गुरुकृपा से पार उतरता गया ।

एक साधक की आन्तरिक छटपटाहट को समझने के लिए भीष्म पितामह का उदाहरण उपयुक्त है । उन्होंने एक व्रत लिया तथा आजीवन उस पर अडिग रहे । धृतराष्ट्र मोहान्ध था, अपने पुत्र दुर्योधन के लिए ही सोचता था । उसके प्रत्येक निर्णय पर इस बात की छाप होती थी । भीष्म, सिंहासनासीन राजा की रक्षा करने, आदेश का पालन करने तथा कोई भी प्रश्न न करने के लिए वचनबद्ध थे । अन्दर ही अन्दर जलते तथा संताप सहन करते थे । न किसी को कुछ कह सकते थे, न शिकायत का एक भी शब्द मुँह पर ला सकते थे । न चाहते हुए भी उन्हें दुर्योधन के पक्ष में युद्ध भी करना पड़ा तथा द्रौपदी-वस्त्र हरण का अपमानजनक कुत्सित दृश्य भी सहन करना पड़ा । वह व्यथित हृदय से सब सहन करते रहे, किन्तु अपने व्रत से च्युत नहीं हुए । कुछ ऐसी ही अवस्था सहनशील गंभीर साधक की भी होती है । वह अपमान सहन करता है, विधि का विधान मानता है, मुँह पर शिकायत का एक शब्द नहीं । फिर भी सबका आदर करता है, सब से प्रेम करता है । लोग उस पर आक्षेप करते हैं, वह सुनता रहता है । कोई दुर्व्यवहार करे तो क्षमाकर देता है । उसका लक्ष्य अपने मन को मारना होता है, जगत् की प्रशंसा तथा वाहवाही लूटना नहीं, परन्तु इस अन्तर ज्वलन में भी उसे सुखानुभूति होती है । जगत् में अनुभव होने

वाले सुख-दुःख को वह प्रारब्ध का भोग मानता है । सुख-दुःख आते हैं, चले जाते हैं । पीछे छोड़ जाते हैं निर्मल मन । इसलिए वह अपनी निन्दा सुनता है, प्रतिकार नहीं करता । कोई अत्याचार करता है तो क्षमा कर देता है । अपने को, उसका विरोधी मानने वालों से भी प्रेम करता है ।

उन दिनों मेरे पास आश्रम सेवा का अत्यधिक काम था । मेरा कार्यक्रम प्रातःकाल तीन बजे से आरम्भ हो जाता था । महाराजश्री चौबीस घंटे में केवल एक बार, प्रात: साढ़े तीन बजे काफी का एक कप लेते थे. फिर दिन भर चाय-काफी कुछ नहीं, अत: तीन बजे उठकर नित्य कर्मों से निवृत्त होकर, साढ़े तीन बजे काफी बनाना होती थी । बस तब से मेरा सेवा कार्य आरंभ हो जाता था। गुरु महाराज की कुटिया की सफाई, महाराजश्री को घूमने के लिए ले जाना, स्नान की व्यवस्था करना, बाजार करना, रसोई का काम, बगीचा एवं आने-जाने वालों की सेवा इत्यादि । दिन भर मेरे पास बात करने का भी समय नहीं था । महाराजश्री की व्यक्तिगत सेवा के अतिरिक्त आश्रम कार्य का भी उत्तरदायित्त्व था । यहाँ तक कि साधन के लिए भी समय नहीं मिल पाता था। उसके लिए महाराजश्री के आराम में चले जाने के पश्चात् रात को दस बजे गुफा में जाता था ।

यह सब सेवा तो कुछ भी नहीं थी, न परिणाम में, न भाव में ही । जिन्होंने अखण्ड भाव से अनवरत गुरुओं की सेवा की है उनका वृत्तांत पढ़कर, सिर श्रद्धा से झुक जाता है । ब्रह्मलीन परम गुरुदेव स्वामी शंकर पुरुषोत्तमतीर्थ महाराज ने जिस अथक परिश्रम तथा सेवाभाव से, अपने गुरुदेव स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज की सेवा की थी, उसके समक्ष मैं बहुत बौना प्रतीत होता था । गुरु महाराज की सेवा कोई कर नहीं सकता । जिस पर कृपा करके वह सेवा लेना चाहते हैं, वही कर पाता है , अत: सेवा का श्रेय सेवक को नहीं, सेव्य को जाता है । सेवा करते हुए कई बार मन में क्रोधित भी हो उठता था, कई बार अभिमान भी उदय हो जाता था, यह सब सेवक धर्म के विपरीत है, परन्तु मेरे मन की मलिनता मुझे परेशान करती थी । सेवा-भाव उसके लिए उपचार स्वरूप था, किन्तु कई बार सेवा सुपथ्य के स्थान पर कुपथ्य हो जाती थी । तब मैं अपने मन को धिक्कारता था । कई बार मुझे अपनी मानसिक दशा पर रोना आ जाता था ।

सेवक-धर्म की प्रेरणा लेने तथा उसके रहस्य को समझने के लिए कल्याण प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित, गुरु सेवकों की कथाएँ, समय मिलने पर पढ़ता था । उन गुरुभक्तों ने जिस भावना तथा लगन से, अपने-अपने गुरु की सेवा की, वह अद्वितीय है । मैं तो अभी कच्चा एवं नौसिखिया था, किन्तु फिर

भी आदर्श रूप में उन्हें अपने सामने रख ही सकता था। इससे मुझे विषय को समझने में सहायता मिली।

जब श्री गुरु महाराज भोजन के लिए कहीं पधारते थे तथा यदि मुझे भी साथ ले जाते, तो मेरी सारी प्रवृत्तियाँ संकोचवश ही होती थीं। बिना पूछे बोलना नहीं, किसी बात को टोकना नहीं। खाने में जो मिल जाए, जैसा तथा जितना भी मिले खा लेना, उठने बैठने में भी अनुशासन का ध्यान रखना। कभी दाल या साग में नमक नहीं हो, तो भी माँगना नहीं। गुरु महाराज का प्रेम अतीव था। यदि मैं कहूँ कि उन्होंने प्रेम की वर्षा में मुझे भिगो दिया, तो अत्युक्ति नहीं होगी। किन्तु महाराजश्री की डाँट-फटकार का रंग भी न्यारा था। जब कभी डाँटने पर आ जाते थे, तो निस्संकोच डाँटते थे, सारी कसर निकाल देते थे, पर अगले ही क्षण फिर प्रेममय रूप धारण कर लेते थे।

महाराजश्री की उदारता की एक घटना याद आ रही है। कोई एक साधु आश्रम में आया। कुछ आश्रमवासियों को साधु का आना अच्छा नहीं लगा। उनके विचार में ऐसे घुमक्कड़ साधु केवल रोटी के लिए घूमते हैं। उन्होंने महाराजश्री से निवेदन किया कि क्या उस साधु को जाने के लिए कह दिया जाए ? किन्तु महाराजश्री ने कहा, "पहले उसे भोजन करा देना, भोजन की आशा से आए हुए को भोजन कराए बिना जाने के लिए कहना उचित नहीं। घुमक्कड़ साधुओं की कठिनाइयाँ आप लोगों को ज्ञात नहीं। कहाँ खाना, कहाँ सोना, कुछ भी निश्चित नहीं। फिर किसी दिन खाने को मिलेगा भी या नहीं ? यह भी साधना का ही एक स्वरूप है।" कितना अन्तर था महाराजश्री तथा लोगों के विचारों में। एक उदारता की साक्षात् मूर्ति तथा दूसरी ओर संकुचित हृदय। मैं मंत्र-मुग्ध महाराजश्री की वाणी सुन रहा था पर आश्रमवासियों को महाराजश्री की बात गले नहीं उतरी, किन्तु क्या कर सकते थे, आदेश था। भोजन करा दिया।

थोड़ा आराम करने के पश्चात् महाराजश्री वराण्डे में बैठे हुए थे कि पास के गाँव का एक व्यक्ति, सिर पर बीस किलो के करीब भेंटस्वरूप गेहूँ लेकर आया। महाराजश्री एकदम चिल्लाए, "जो लोग उस साधु को बिना भोजन करवाए जाने को कहने की बात करते थे, उन सबको बुलाओ।" सब आ गए तो महाराजश्री ने कहा, "उस साधु को जो भोजन करवाया है उसके यह गेहूँ रख लो।" सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। किसी के पास भी बोलने को कुछ नहीं था। तब महाराजश्री बोले, "तुम क्या समझते हो कि तुमने उसे भोजन कराया है ? कोई किसी को न कुछ खिला सकता है न दे सकता है। सब अपने प्रारब्ध का खाते हैं, प्रारब्ध का लेते हैं। मनुष्य चलता है तो उसका प्रारब्ध आगे-आगे चलता है। यह तुम्हारी भ्रान्ति है कि तुम किसी को खिलाते

हो । प्रारब्ध में नहीं हो तो घर में सब कुछ होते हुए भी भूखा रहना पड़ता है। प्रारब्ध में यदि हो तो जंगल में भी भर पेट पकवान मिल जाते हैं । माध्यम कोई भी हो सकता है ।'' महाराजश्री की ऐसी कई घटनाएँ मेरे देखने में आईं जिनसे उनके हृदय की उदारता का पता चलता है ।

महाराजश्री अन्य गुरुओं के शिष्यों को प्रभावित करके, अपने अधिकार क्षेत्र में लेने के सदा विरोधी रहे । वह कहते, ''जो अपने गुरु का न हुआ वह हमारा क्या होगा । वैसे भी अपने गुरु पर श्रद्धा ही कल्याणकारी होती है । दूसरे के शिष्य के साधन में तो हस्तक्षेप करना ही नहीं चाहिए । आओ, सत्संग करो और बस।'' जब कोई दूसरे किसी गुरु का शिष्य साधन संबंधी कोई प्रश्न करता तो उत्तर होता, ''यह अपने गुरु महाराज से पूछो । जैसा वह कहें, वैसा करो । साधन एक होते हुए भी प्रणाली में अन्तर हो सकता है । दो प्रणालियों का मिश्रण साधक की क्रियाओं की स्वाभाविकता नष्ट कर सकता है, अतः अपने गुरु महाराज द्वारा प्रदत्त साधन प्रणाली ही साधक के हित में है ।''

इस प्रकार मैं अपने आपको एक विचित्र से चौराहे पर खड़ा पाता था । एक ओर जगत् का राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ तथा स्वार्थपरता आदि कुप्रवृत्तियाँ थीं, दूसरी ओर आश्रम सेवा का अत्यधिक कार्यभार था, तीसरी ओर मेरे अपने अन्तर की मलिनता थी । चौथी महाराजश्री की कृपादृष्टि, प्रेम-पूर्ण व्यवहार तथा सरल-सौम्य साधनमय व्यक्तित्व । मेरा मन कभी एक ओर लुढ़क जाता, तो कभी किसी दूसरी ओर । आश्रम की सेवा करते समय मुझे क्रोध तथा अभिमान बीच-बीच में आकर दबोच लेते थे, यद्यपि मैं अन्दर ही अन्दर पी जाता था, फिर भी मन उद्वेलित तो हो उठता था । जगत् में राग-द्वेष तथा स्वार्थ आदि तो जन-जन के मानस पर कब्जा जमाए बैठे ही हैं । मेरे साथ व्यवहार करते समय जब कोई इन दुर्गुणों का सहारा लेता, तो मन अन्दर ही अन्दर तड़प उठता था । पर जगत् का कोई क्या कर सकता है ? वह न सुधरा है न सुधरेगा । अपने मन की मलिनता चित्त को तरंगित करती ही रहती थी । जब तक मन में कचरा है तब गंदगी तो रहेगी ही । बस एक सहारा गुरु महाराज के व्यक्तित्व का ही था । उनकी एक मधुर प्रेमभरी मुस्कान हृदय को गहराई तक शीतलता प्रदान कर जाती ती । उनके द्वारा उपदेशात्मक, एक-एक शब्द कब-कब के जमे संशयों की निवृत्ति कर जाता था तथा उनका प्रदान किया हुआ साधन-क्रम, चित्त की सारी गन्दगी को धो डालता था । अभी तक मैं, गुरु तथा गुरु-तत्त्व शब्दों को सुनता ही आ रहा था किन्तु अब दोनों का स्वरूप, रहस्य तथा अन्तर मेरे सामने प्रकट होने लगा था ।

मैं एक ऐसी चार दीवारी में घिरा हुआ था जिसमें जगत् के राग-द्वेषादि तथा मन की मलिनता रूपी दो दीवारों में कोई दरवाजा ही नहीं था । सेवा रूपी

दीवार में एक छोटी खिड़की अवश्य थी, जिसमें अभिमान तथा क्रोध की मजबूत सलाखें लगी थीं। जिसमें से बाहर सुन्दर दृश्य देखा जा सकता था तथा शीतल बयार अन्दर प्रवेश कर सकती थी । गुरुकृपा रूपी दीवार में, बाहर निकलने का एक बड़ा फाटक था, जिसमें से बेरोक-टोक बाहर निकला जा सकता था । कैदखाने से, अर्थात् इस जगत् के दुखदायी माया जाल से, बाहर निकलने का एकमात्र द्वार गुरुकृपा ही है । महाराजश्री के चरणों में मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी थी । अब आश्रम का सेवा काम करते समय, बाजार जाते या रसोई में, हर कहीं, हर समय, महाराजश्री की दिव्य-चेतना का अनुभव होने लगा । साधन में अनुभवात्मक स्तर पर सब घटित होता ही था, व्यवहार में भी वैसी ही स्थिति बनी थी । काम करते समय मन में यह होता कि महाराजश्री के दर्शन कर आऊँ । पन्द्रह मिनिट, आधे घण्टे के पश्चात् किसी न किसी बहाने महाराजश्री के कमरे का चक्कर लगा आता था ।

अब मेरे सामने यह भी स्पष्ट होता जा रहा था कि सेवा-धर्म कितना कठोर है। जगत् सेवक की सेवा को स्वार्थ के तराजू में तोलता है तथा अपने अभिमान की कसौटी पर कसता है । उसे सेवक की भावना से कुछ लेना-देना नहीं है । यदि सेवक की सेवा किसी के स्वार्थ के आड़े आ रही है, तो वह सेवक की टोपी उछालने में परहेज नहीं करता । वैसे तो मैं महाराजश्री की सेवा में था, किन्तु आश्रम का काम, आने-जाने वालों के काम, ये सब भी महाराजश्री की सेवा के अन्तर्गत ही थे । लोग इस बात को भूल जाते थे कि यह गुरुजी का सेवक है तथा अपने प्रति की गई सेवा के कारण अपना सेवक मान लेते थे । बस यहीं से सारी समस्या शुरू हो जाती थी। सत्संग में तथा पुस्तकों में पढ़ी हुई यह बात कि सेवक धर्म सब से कठोर है, अब अनुभव में आने लगी थी । अभिमान तथा क्रोध का मेरे अन्दर भी अभाव नहीं था । कभी-कभी प्रकट भी हो जाता था, नहीं तो अन्दर ही अन्दर तो मैं सुलगता ही था । किसी का यदि सौ बार काम कर दिया, किन्तु एक भी बार किसी कारणवश नहीं कर पाए तो वह व्यक्ति सौ बार के किए को भूल जाता है तथा सेवक को सबक सिखाने पर उतर आता है । लोग अपने घर तथा व्यापार का काम निपटाकर अपनी सुविधा से महाराजश्री के दर्शन तथा सत्संग करने आते थे । महाराजश्री की सुविधा का कोई ध्यान नहीं था । उनका स्वास्थ्य कैसा है या दिन में कितना श्रम करना पड़ा है, इस बात को निकट संपर्क में रहने वाला सेवक ही भली-भाँति समझ सकता था । यदि किसी को अन्दर जाने से रोका, तो सेवक की शामत । कोई ऐसी बात जिसे स्वयं महाराजश्री के द्वारा करना उचित नहीं समझा गया तथा जिसे सेवक के ही माध्यम से करना उचित समझा

गया हो, यदि सेवक ने नहीं कर दी, तो सेवक से नाराजगी। जो सेवक रसोई घर की सेवा करता हो, उससे प्राय: लोग नाराज रहते ही हैं।

अब सेवक की स्थिति देखिए। यदि वह सच्चा सेवक है तो उसे स्वामी के सभी भक्त एक समान प्रिय हैं, न किसी से राग, न किसी से द्वेष, न किसी से कोई आशा। सब की एक समान सेवा। वह भक्तों तथा अपने स्वामी के बीच एक सेतु के समान होता है। उसे अपने स्वामी की सुविधा का भी ध्यान रखना होता है तथा साथ ही साथ भक्तों की भी सेवा करना होती है। सेवक किसी से कुछ माँगता नहीं, सेवा ही करता है। जो उस पर कटाक्ष करते हैं, उनकी भी। जो उसकी प्रशंसा करते हैं उनकी भी। वह सब सहन करता है पर सेवा नहीं छोड़ता, किन्तु लोगों को न तो स्वामी की सुविधा का ध्यान होता है, न ही सेवक की विवशता का। सेवक जितना अधिक सेवा करता है, उतना ही अधिक उसे जगत् परेशान करता है।

उन दिनों मैं आश्रम सेवा में इतना दत्तचित्त होकर लगा था कि आने-जाने वाले प्राय: मुझे आश्रम का नौकर समझते थे। दाढ़ी बढ़ी हुई, पाँव से नंगा तथा अत्यन्त मलिन वस्त्र। काम करने के लिए रखा हुआ नौकर जैसा। एक बार बाहर से कोई सज्जन आए हुए थे। साथ में उनकी पत्नी तथा एक नौकर भी था। वह मुझे किसी न किसी काम से बार-बार बाजार भेजते थे। फिर उन्होंने मुझे दाल की पीठी पीस देने के लिए कहा तो मैंने मना कर दिया क्योंकि आश्रम का नित्य प्रति करने वाला काम बहुत रखा था। तब उन्होंने एक आश्रमवासी से मेरी शिकायत की कि आपका यह आदमी हमारा काम नहीं करता। पीठी भी हमारे ही आदमी ने पीसी, इसने मना कर दिया। इतने में मैं उधर से निकला तो आश्रमवासी ने हँसते हुए कहा, "यह आपकी शिकायत कर रहे हैं।" इतने में ही वह मुझ पर उबल पड़े कि तुमने यह कहा, वह कहा, तुम आना-कानी करते हो। मैंने कहा, "देखिए जी ! मेरे पास आश्रम का बहुत काम है। आपको यदि रसोईघर में कुछ बनाने का कार्यक्रम बनाना हो, तो उसकी व्यवस्था भी आपको स्वयं करना होगी, आदमी आपके पास है ही।" इतना कहकर मैं तो चला गया। पीछे उन आश्रमवासी ने उन्हें समझाया कि वह हमारा कोई नौकर तो है नहीं, सेवा-भाव से काम करता है, हम उसे ज्यादा कह भी नहीं सकते। यह सुनकर वह सज्जन आश्चर्यचकित हो गये तथा मेरे पास आकर क्षमा याचना करने लगे।

सेवा कार्यों में इस प्रकार की अनेक कठिनाइयों का अनुभव होता रहा। मैं भी मन में ठाने हुए था कि एक वर्ष का समय सेवा में ही व्यतीत करना है। कई बार जब मेरे द्वारा कुछ किए जाने पर उसका श्रेय कोई दूसरा ले जाता तो बहुत बुरा लगता, किन्तु यह सोचकर कि सेवा श्रेय लूटने के लिए नहीं होती,

मन को समझा लेता था। सेवा का अवसर प्राप्त होना स्वयं में श्रेय है । जो कोई किसी पारितोषिक, नाम अथवा यश के लिए सेवा करते हैं, वे अपने आपको तथा सेवाभाव को ठगते हैं। यदि कोई काम बिगड़ जाता था तथा उसका उत्तरदायित्त्व कोई मेरे ऊपर डाल देता था तो भी बहुत बुरा लगता था। फिर मैं यह नियम भी बना चुका था कि किसी की शिकायत अथवा निंदा नहीं करना, कोई आक्षेप करे तो प्रतिकार नहीं करना । देखने में ऐसा लगता था कि यह नियम बनाकर, मैंने अपने आपको बाँध लिया है, किन्तु ये सब बातें मेरी साधना का अंग थीं । जब गुरु महाराज से फटकार सुनने को मिलती थी तो यह संतोष कर लेता था कि इसमें भी मेरा कल्याण ही है । इस प्रकार सहनशीलता से संचित संस्कारों के क्षय का मार्ग खुलता चला गया । शंकराचार्य का, "सहनं सर्व दुःखानां अप्रतिकार पूर्वकम्" सब दुःखों को सहन करना, प्रतिकार नहीं करना, मुझे बार-बार याद आता था । शंकराचार्य ने गहन चिन्तन तथा अनुभव के पश्चात् ही यह लिखा होगा ।

अपना मन तो दूषित था ही, न जाने कितने जन्मों की मैल एकत्र थी। अभी तो नए-नए संस्कार भी जमा होते जा रहे थे । यह नहीं होता तो मन विक्षिप्त, उद्विग्न तथा चंचल ही क्यों होता । चित्त निर्मल होता तो भटकने की भी क्या आवश्यकता थी । कोई रोगी ही चिकित्सक के पास जाता है । जगत्-विषय से त्रस्त जीव ही गुरुशरण ग्रहण करता है । सभी संतों-महापुरुषों को मन के हथकण्डे झेलने पड़े हैं। सभी ने मन का रोना रोया है तथा सभी ने गुरु को ही उसका उपाय बताया है ।

यह लिखा ही जा चुका है कि मेरे पास आश्रम का सेवा-कार्य बहुत था, किन्तु यह सब सेवा शारीरिक ही थी । मेरे रहने के कारण आश्रम पर कुछ न कुछ आर्थिक बोझ पड़ता ही था तथा मैं आर्थिक सेवा कुछ भी नहीं कर पाता था, क्योंकि मेरे पास कुछ था ही नहीं । दूसरे कई लोगों को देखता था जो यथायोग्य आर्थिक सेवा करते थे । कुछ तो पानी का एक गिलास ही पीकर चले जाते थे तथा जाते समय कुछ भेंट करके ही जाते थे । दूसरी ओर एक मैं था जो आश्रम पर बोझ बने बैठा था, किन्तु सेवा के नाम पर शून्य था । यह विचार बार-बार मेरे मन को कचोटने लगा । यह सोचते रहने का प्रभाव मेरी शारीरिक सेवा पर भी पड़ा । किसी काम में मन ही नहीं लगता था । अन्ततः एक उपाय सूझा । क्यों न कहीं छोटी-मोटी नौकरी कर ली जाए। जो कुछ वहाँ से मिलेगा, सब आश्रम को अर्पण । जितना समय बचेगा, वह तो आश्रम का है ही । यह उपाय मेरे मन को भा गया । दो एक लोगों से बात की तो उन्होंने कहा कि नौकरी तो कोई न कोई मिल जाएगी । पहले महाराजश्री से निवेदन करके

अनुमति ले ली जाय । बात करने के लिए मैं उपयुक्त अवसर की तलाश में रहने लगा तथा साथ ही साथ अपने को भी बात करने के लिए तैयार करने लगा ।

अवसर मिलने पर मैंने महाराजश्री से कहा, "एक विचार मुझे कुछ दिनों से परेशान कर रहा है । सब लोग आपकी आर्थिक सेवा करते हैं, इसके विपरीत मैं आश्रम पर बोझ बना बैठा हूँ । सोचता हूँ कि कोई छोटी-मोटी नौकरी कर लूँ । जो मिलेगा वह आश्रम की सेवा हो जाएगी । बाकी जितना समय मिलेगा उसमें शारीरिक सेवा होती रहेगी ।" महाराजश्री चुप्पी साधे सुनते रहे, फिर बोले, "यह विचार तुम्हें आया कैसे ? देखो जो लोग आर्थिक सेवा करते हैं, उनके पास सौ रुपया होता है तो एक रुपया करते हैं । पर तुमने तो अपना सर्वस्व ही आश्रम को अर्पण कर रखा है। तुम्हारी सेवा के साथ उनकी क्या तुलना हो सकती है ?" फिर बोले "मैं तो तुम्हें बहुत समझदार समझे बैठा था, पर अब लगा कि मैं भ्रान्ति में था ।" महाराजश्री की बात सुनकर मैं पानी-पानी हो गया । अब आगे और क्या बोल सकता था ।

एक पण्डितजी थे, नित्यप्रति आश्रम में आते तथा साधन करते थे, किन्तु उनकी आश्रम के व्यवस्थापकों तथा एक ब्रह्मचारी से पटती नहीं थी । मेरे आश्रम में आकर रहने के पश्चात् वह मेरे काफी समीप आ गए थे तथा यथासंभव मेरी सहायता भी करते थे, बहुत मीठा बोलते थे । महाराजश्री कहीं बाहर भ्रमण पर गए हुए थे । पण्डितजी ने मुझे अपने घर भोजन का निमंत्रण दिया, जिसे मैंने हाँ-न करते करते स्वीकार कर लिया । पण्डित जी ने सुस्वादु भोजन बड़ा आग्रह कर करके कराया । उनके सारे परिवार का व्यवहार भी मेरे प्रति बड़ा प्रेमपूर्ण, आदरपूर्ण था, किन्तु इसके साथ ही साथ वह निरन्तर, आश्रम के व्यवस्थापकों तथा उन ब्रह्मचारीजी के प्रति मेरे मन में विष घोलने का प्रयत्न करते रहे जिससे सुस्वाद भोजन अत्यन्त कड़वा विषैला हो गया । मुझे वह परिवार देवता के रूप में दानव दिखाई देने लगा जो मेरे मन में राक्षसी संस्कारों का बीजारोपण करता जा रहा था । मैंने बार-बार बात को घुमाने का प्रयत्न किया पर वह घूम फिरकर उसी बात पर आ जाते थे । वह मानो सारी भड़ास आज ही निकाल लेना चाहते थे । मेरे कानों में जैसे गरम सीसा उड़ेला जा रहा था। जगत् की दृष्टि से वह भले हितैषी हों, किन्तु अध्यात्म की दृष्टि से उनके समान दूसरा कोई अहितकर नहीं था। हितैषी क्या वास्तव में ही हितैषी होते हैं ? नहीं, वह आपकी हित-कामना का प्रदर्शन करते हुए, आपको मधुर-विष-पान कराते हैं । आपके मन में किसी न किसी के प्रति राग-द्वेष के भाव

उभारते रहते हैं। इनसे तो शत्रु ही अच्छे, जिनका वास्तविक रूप तो प्रकट है, किन्तु ये तथाकथित हितैषी आपके मन को विष से दूषित करते रहते हैं तथा मनुष्य भी उसे मीठा मानकर ग्रहण करता रहता है।

किसी प्रकार भारी मन से मैंने भोजन समाप्त किया तथा बिदा ली। रास्ते भर मैं उन पण्डितजी के व्यवहार के बारे में सोचता हुआ आश्रम वापिस पहुँचा। मुझे बार-बार उनकी मानसिक दशा पर दया आती थी। बीच-बीच में कभी क्रोध भी उभरता था। एक साधक की मनोदशा को बिगाड़ने का प्रयत्न उन्होंने क्यों किया ? मेरे अन्तर में मलीनता पहिले से ही बहुत थी। दया इसलिए आती थी कि वह अपनी मन: स्थिति के हाथों कितने विवश थे। उसके पश्चात् पण्डितजी को मैंने कभी बात करने का अवसर नहीं दिया। कोई बात की भी तो कोई बहाना बनाकर खिसक लिया, किन्तु उन पण्डितजी के प्रति घृणा या द्वेष का भाव कभी मन में नहीं आया।

कई लोग ऐसे भी थे जो महाराजश्री की इच्छा तथा वचन के अनुसार चलने का प्रयत्न करते थे, किन्तु कुछ लोगों का व्यवहार बड़ा अटपटा था। महाराजश्री की खिड़की के पास के वराण्डे में बैठा हुआ मैं दिया जा रहा उपदेश भी सुनता रहता था तथा उत्तर में "बहुत अच्छा महाराज जी" की ध्वनि कानों में आती थी। बाहर निकल कर वही व्यक्ति कहता, "वह तो महात्मा हैं, महाराज हैं, जगत् में कैसी परिस्थितियाँ हैं, वह क्या जानें ? व्यवहार तो हमें करना पड़ता है न।" उनकी यह विपरीत बातें सुनकर मैं चकित रह जाता। क्या यह वही व्यक्ति है जो क्षण भर पहले अन्दर हाँ-हाँ कर रहा था ? यह बात कहने की हिम्मत महाराजश्री के सामने क्यों नहीं होती ? अपनी यदि कोई कठिनाई है तो गुरु को कहने में क्या आपत्ति ? किन्तु महाराजश्री के सामने तो बड़े भक्त बनते हैं, साधक बनते हैं, बाहर आकर शुद्ध संसारी हो जाते हैं। यह दो मुहीं बात मेरी समझ में नहीं आती थी।

यह नहीं कि सभी लोग इसी प्रकार के थे। महाराजश्री की बातों को गंभीरता से लेने वालों की भी कोई कमी नहीं थी। अपनी कठिनाइयों को महाराजश्री के सामने रखते थे। उसके अनुसार ही, उन्हें महाराजश्री से समाधान भी प्राप्त होता था। ऐसे लोग ही मेरा आदर्श थे। महाराजश्री कहते, "यह तो आपका आदर्श है। इसमें से कौन-कौन सी बात अभी अपने जीवन में उतार सकते हैं, उतना तो करो, जैसे-जैसे आप करते जाएँगे, आपके प्रयत्न का दायरा बढ़ता जाएगा, अन्ततः एक दिन उस आदर्श के अनुसार स्वभावतया चल पाओगे। भगवान भी सहायता करते हैं।" अधिकांश लोग यह कर नहीं पाते तथा हाँ में सिर हिलाकर बाहर निकल आते थे तथा फिर उपदेश के विपरीत बात करते थे। महाराजश्री कहते भी थे कि बात का प्रभाव उतनी देर ही रहता है जब तक लोग आश्रम के फाटक से बाहर

नहीं गए। देखने में तो यह आ रहा था कि आश्रम में रहते ही लोगों पर से बात का प्रभाव समाप्त हो जाता था।

महाराजश्री समझाते थे कि राग-द्वेष ही जगत् है। जिसके मन में राग-द्वेष है उसी के लिए जगत् का महत्त्व है तथा उसी को जगत् सुखी-दुःखी करता है, इसलिए राग-द्वेष से हटना ही साधना है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सभी साधनाएँ राग-द्वेष का भाव समाप्त करने के लिए ही हैं। राग-द्वेष ही सभी मानसिक विकारों का कारण है। क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि सभी को राग-द्वेष ही पैदा करता है। मैं यह नहीं कहता कि मेरे से भूलें नहीं हुईं। राग-द्वेष के कारण कई बार कोई बात बुरी लग जाती थी, जो कि लगना नहीं चाहिए थी, किन्तु मैं उसे अन्दर ही अन्दर दबा लेता था। कई बार क्रोध भी आ जाता था जिसको मैं प्राय: बाहर व्यक्त नहीं होने देता था। जगत् में प्राय: लोग अन्जान हैं। इन बातों की ओर उनका लक्ष्य जाता ही नहीं, वाणी तथा कर्म पर कोई नियंत्रण नहीं होता। बड़ी जल्दी आवेश में आ जाते हैं। क्या कहना, कब कहना, कहाँ कहना आदि विषयों का ध्यान नहीं रख पाते। लोग प्राय: चार प्रकार से, अपने अन्तर में, कोई विचार या भाव उदय कर लेते हैं -

(१) काल्पनिक - जीव का मन कल्पनाएँ करने में बहुत दक्ष है। हर समय कुछ न कुछ कल्पना किया ही करता है। कोई आधार न होते हुए भी कल्पनाओं के बड़े-बड़े भवन निर्माण कर लेता है, फिर उसका मन उन कल्पनाओं से तरंगित होता रहता है, जिसे वाणी जगत् में इधर-उधर प्रसारित करते रहने का कारण बन जाती है।

(२) अनुमानित - अनुमान लगाना भी जीव के स्वभाव में ही सम्मिलित है। अमुक व्यक्ति, अमुक व्यक्ति से मिला है तो उसने अंवश्य ही मेरे बारे में कुछ कहा होगा। फिर उस अनुमान के आधार पर बहुत कुछ सोच लेता है कि उसने कहीं ऐसा तो नहीं कह दिया ? यदि उसने ऐसा कहा है तो मुझे अवश्य ही उसका प्रतिकार करना चाहिए। बस उस अनुमान के आधार पर, उस व्यक्ति के विरुद्ध मोर्चा खोल देता है तथा सच-झूठ का कोई विचार किए बिना, जो मुँह में आया प्रचारित किए जाता है।

(३) सुनी-सुनाई - सुनी-सुनी बातों पर विशेषकर जब किसी की बुराई हो, विश्वास कर लेना भी मनुष्य स्वभाव है। बिना उसकी सच्चाई का पता लगाए, केवल किसी के कह देने भर से उस पर विश्वास कर लेना युक्ति संगत नहीं। जगत् में न लोगों की कमी है, न बुराइयों की, यदि सच पूछा जाय तो प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तर में अवगुणों का भण्डार लिए बैठा है। अपने अवगुणों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता, किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति की

छोटी सी बात को लेकर उठ खड़ा होता है । आप किसी एक व्यक्ति को कुछ बात कह दें, समझ लो वह बात अनेक व्यक्तियों तक चली गई है ।

(४) वास्तविक - अर्थात् जिस बात का कोई आधार हो । वास्तविक बात के साथ भी लोग कई प्रकार की काल्पनिक तथा अनुमानित बातें जोड़कर बात को बहुत बड़ा रूप देते हैं । जैसे-जैसे बात एक मुँह से दूसरे मुँह तक पहुँचती है, उसका रूप बड़े से बड़ा होता जाता है । वास्तविकता दब जाती है तथा काल्पनिक और अनुमानित बातों का ढेर लग जाता है ।

उपर्युक्त सभी बातों में लोगों को उलझा हुआ देख सकता था । मुझे स्वयं भी इनका सामना करना पड़ता था । वास्तविक कारण होने पर क्षमा-याचना करने में मुझे आपत्ति न थी, किन्तु काल्पनिक, अनुमानित एवं सुनी-सुनाई बातों का क्या किया जाए । जब ऐसी बातें, चाहे किसी के भी बारे में सुनने को मिलती थीं तो बुरा तो लगता ही था । मेरा वैराग्य भी अभी परिपक्व नहीं था, न मैं कोई सिद्धयोगी था । मन विचलित हो उठता था, किन्तु गुरु महाराज के इस उपदेश को याद करके कि राग-द्वेष ही सुखदुखादि का कारण हैं, अपने मन को शान्त कर लेता था । बार-बार अपने अन्तर में झाँक कर देखता था । जब किसी सत्त्वगुण- प्रधान व्यक्ति से मिलना होता था तो मानो वायु का शीतल झोंका हृदय को रस विभोर कर देता था । जब किसी संसारी मनुष्य से पाला पड़ता था तो मानों गरम लू से सारा अन्तर झुलस जाता था, किन्तु गुरु महाराज की स्थिति इससे ठीक विपरीत थी उनका मन सदैव ही समस्थिति धारण किए रहता था । महाराजश्री ने यह स्थिति कैसे प्राप्त की ? क्या मैं भी उसे प्राप्त कर पाऊँगा ?

महाराजश्री कहते थे, "अरे, बड़े-बड़े ज्ञानी-तपस्वी भी राग-द्वेष से उबर नहीं पाए । फिर बेचारे संसारियों तथा कच्चे साधकों की क्या बिसात है ।" उन्हीं दिनों की बात है, गुरु महाराज भ्रमण पर बाहर गए हुए थे । उस समय आश्रम पर मैं अकेला ही था । न कोई भोजन बनाने वाला, न ही दूसरा आश्रमवासी । गुरु महाराज की अनुपस्थिति के कारण, आने-जाने वालों की संख्या नगण्य हो गई थी । मेरे पास उस समय विशेष कुछ काम नहीं था । ऐसे समय बगीचे तथा साग-सब्जी लगाने की बात ही सूझती है । मैंने सोचा महाराजश्री लौट के आएँगे तो साग-भाजी लगी हुई देखकर प्रसन्न होंगे । उस समय मेरे अन्दर अभिमान तथा प्रशंसा पाने की लालसा उभर आई थी । जैसे-जैसे पालक, मेथी, धनिया तथा पपीता आदि बढ़ते गए, मेरा अभिमान भी बलवान होता गया । प्रशंसा के शब्द मेरे कानों में गूंजने लगे । मुझे उस साग-भाजी से मोह हो गया । रसोई घर के वराण्डे में बैठा उसे देखता रहता तथा मन ही मन प्रसन्नता का अनुभव करता ।

उन दिनों आश्रम के चारों ओर दीवार नहीं बनी थी । सब ओर से खुला होने से कोई कहीं से भी आ-जा सकता था । मैं भोजन बनाने के लिए रसोईघर के अन्दर था । थोड़ी देर बाद जब बाहर निकला तो कुछ बकरियाँ पपीते के पेड़ों का नाश्ता कर रही थीं । यह देखकर मैं क्रोध से तमतमा गया तथा एक लकड़ी उठाकर बकरियों को मारने के लिए भागा । बकरियाँ भला कहाँ पकड़ में आने वाली थीं । मैंने बड़ी दूर तक उनका पीछा किया । हाँफ गया तो लौट आया । मेरा बदन क्रोध से जल रहा था, निढाल होकर लेट गया । अभिमान तथा प्रशंसा पाने की लालसा चूर-चूर हो चुकी थी । उस दिन भोजन करने का भी मन नहीं हुआ । बस लेटे-लेटे ही नींद आ गई । स्वप्न में महाराजश्री के दर्शन हुए । कहने लगे, "क्या तुझे उस खेती तथा झाड़ों के प्रति राग नहीं हो गया था ? क्या तेरे अन्दर प्रशंसा पाने की लालसा नहीं थी ? यदि यह सब कर्त्तव्य-बुद्धि तथा गुरु सेवा की भावना से किया होता तथा यदि तू कर्त्तव्य-कर्म के रहस्य को समझता तो आज तुझे यह निराशा एवं दुःख नहीं सहन करना पड़ता ।" एकदम मेरी नींद खुल गई । महाराजश्री के कहे हुए शब्द अभी तक कानों में गूंज रहे थे । कर्म-योग का रहस्य अभी भी मेरी समझ में नहीं आ रहा था। विचार किया कि महाराजश्री के लौटकर आने के उपरान्त पूछूँगा, किन्तु एक बात स्पष्ट थी कि सेवा-भाव के स्थान पर मेरे मन में प्रशंसा पाने की इच्छा अधिक थी । उसी आशा के कारण निराशा हुई थी ।

जब गुरु महाराज बाहर अपने भक्तों-साधकों के यहाँ अथवा अन्य किसी स्थान पर भ्रमण के लिए जाते थे तो सदैव कोई ब्रह्मचारी या दूसरे लोग ही उनके साथ जाया करते थे तथा सदैव ही, मुझे आश्रम पर छोड़ जाया करते थे। एक बार जब महाराजश्री मुझे आश्रम पर छोड़कर भ्रमण के लिए पधारे, तो मन में बहुत बुरा लगा। विचार आया कि मेरी स्थिति तो केवल आश्रम में सेवा करने के लिए है या चौकीदारी तक ही सीमित है । जब भी महाराजश्री भक्तों के यहाँ जाते हैं, मुझे कभी भी साथ नहीं ले जाते । मन में बड़ी ग्लानि तथा निराशा हुई । सायं का समय था कुछं लोग आते ही थे । एक सज्जन जो कि काफी सुलझे हुए तथा मुझ पर बहुत दयालु थे, शाम को आए तो मुझे पूछ बैठे कि गुरुजी के साथ आप कभी बाहर नहीं जाते ? उनके इस प्रश्न ने मुझे अपना दिल खोलकर उनके समक्ष रख देने का अवसर प्रदान कर दिया । मैंने कहा "ऐसे मेरे भाग्य कहाँ ? मैं तो आश्रम की देखरेख के लिए ही हूँ। बाहर जाने के लिए दूसरे लोग बहुत हैं । हमारी बारी कैसे आएगी ?" मुझे निराश देखकर उन्होंने कहा, "आप घबराइये नहीं । एक दिन आप भी महाराजश्री के साथ

जाएँगे और सारा भारत घूमेंगे । निराश क्यों होते हैं?'' फिर उन्होंने समझाते हुए कहा, ''देखिए, सेवा – मार्ग बड़ा गहन है सेवक की अपने लिए कोई आकांक्षा नहीं होती। जहाँ उसका स्वामी उसे काम में लगा देता है, वहीं अपना अहोभाग्य समझकर लगा रहता है । न किसी प्रकार का सम्मान चाहता है, न सुविधा तथा न ही अपने लिए कोई आकांक्षा होती है । आपके मन ही यह ग्लानि सेवक धर्म से मेल नहीं खाती । इसलिए आप उदारतापूर्वक, गम्भीर होकर, सेवक धर्म पर विचार करें । आपका सौभाग्य है कि गुरु महाराज ने आपको सेवा के योग्य समझकर, आपको कार्य सौंपा है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्या काम सौंपा है, महत्त्वपूर्ण यह है कि आप पर विश्वास करके आपको सेवा- कार्य दिया है, अत: अभिमानरहित होकर, सेवा-भाव से युक्त होकार, पूरे उत्तरदायित्व के साथ उस काम में लगे रहें, इसी में आपका कल्याण है । भविष्य में जब गुरु महाराज अन्य किसी कार्य के योग्य समझेंगे, तो आपको वह काम दे देंगे।'' उनकी बातें सुनकर मन में बड़ा संतोष हुआ । मैंने कहा, ''आपने मेरे मन की भ्रान्ति दूर कर दी है । मैं सेवा करते हुए भी अभिमान के वशीभूत हो गया था । मन में कई आशाएँ पाले बैठा था और वे आशाएँ पूर्ण नहीं होने पर निराश होने लगा था । अब मेरे अन्तर में कोई ग्लानि नहीं है ।''

मैं ग्लानिमुक्त तो हो गया पर मुझे अपनी मानसिक दशा पर बहुत रोना आया। मैं इतना अज्ञानी हूँ कि इतनी साधारण सी बात भी न समझ पाया ! वास्तव में ये सारी बातें मुझे पहले से ही ज्ञात थीं । लोगों को मैं यह सब समझाता था, किन्तु अपने मन की मलिनता के कारण भ्रान्ति में पड़ गया । जब कोई मार्गदर्शक मिला तो मार्ग दिखाई देने लग गया । मैंनें सेवा-धर्म पर गंभीरतापूर्वक गहन विचार किया एवं गुरु महाराज की कृपा के फलस्वरुप सेवाधर्म के जो पक्ष उभर कर मेरे अन्तर में कोई ग्लानि नहीं है । प्रकाशित हुए, वे इस प्रकार हैं –

(१) अभिमान सेवा-भाव का विरोधी है । अभिमानी यदि सेवा करता भी है तो उसके सेवाच्युत हो जाने की आशंका बनी रहती है । अभिमानी कई बार ऐसा समझने लगता है कि उसके स्वामी का महत्त्व उनकी सेवा के कारण बना है । यदि वह सेवा से हाथ खींच ले तो स्वामी महत्त्वहीन हो जाएगा । वह यह नहीं समझता कि असे सेवा का अवसर प्रदान करके उस पर उपकार किया गया है ।

(२) सेवक किसी प्रकार के आदर की कभी कामना नहीं करता। सम्मान भाव, सेवाभाव का विरोधी है । वह यह नहीं सोचता कि वह सेवा करता है इसीलिए उसे महत्त्व मिलना चाहिए, हर बात में उसकी पूछ होना चाहिए । चार व्यक्ति इकट्ठे हों तो उसे उचित आसन मिलना चाहिए । वह सदैव अपने स्वामी का ही आदर चाहता है तथा स्वयं उनका सेवक बनकर रहने में ही संतुष्ट रहता है

(३) **सेवक कभी अपने मन में ऐसा भाव नहीं लाता कि वह सेवक है।** वह अपने स्वामी अथवा सेव्य का आभार मानता है कि उन्होंने अपार कृपा करके उसे सेवा का अवसर प्रदान किया अर्थात् वह सेवा नहीं कर रहा, अपितु उसके स्वामी उससे सेवा ग्रहण कर रहे हैं । वह उसे जब जिस सेवा के योग्य समझते हैं अथवा जब जैसी इच्छा होती है, वह सेवा ग्रहण करते हैं ।

(४) **यह आवश्यक नहीं कि स्वामी अपने सेवक को कुछ करने का स्पष्ट आदेश ही दें ।** यदि किसी समय वह कोई इच्छा व्यक्त करते हैं तो सेवक उसे भी स्पष्ट आदेश से कम नहीं समझता । सदैव ही स्वामी के हित में स्वामी की प्रसन्नतानुसार सेवा में रत रहता है । सेवक का अपना कुछ नहीं होता, जो कुछ भी है सभी उसके स्वामी का ही है, यहाँ तक कि सेवक का शरीर, मन, समय तथा आन्तरिक वृत्तियाँ सभी उसके स्वामी की ही होती हैं ।

(५) **क्रोध मनुष्य को पागल कर देता है, क्रोध में मनुष्य उचित-अनुचित का विवेक खो देता है ।** कब किसको क्या कहना, इसका भी भान नहीं रहता । क्रोधी मनुष्य कई बार अपने स्वामी का आदर भी नहीं रख पाता और न कहने योग्य बातें कह जाता है, अत: क्रोधी मनुष्य सेवा के सर्वथा अनुपयुक्त है । इसी प्रकार लोभ, मोह, काम भी इसी श्रेणी में आते हैं । सेवक के चित्त में केवल एक ही भाव रहता है, गुरु सेवा का भाव । उसे केवल अपने गुरु की प्रसन्नता चाहिए और कुछ नहीं ।

(६) **गुरु का स्वरूप मंगलकारी है,** वह सदैव शिष्य की हित कामना ही करता है । कई बार शिष्य को गुरु की बात समझ में नहीं आती, किन्तु इस बात को गुरु ही समझ सकता है कि कब, किस तरह शिष्य का कल्याण करना है। अतः शिष्य का श्रेय इसी में है कि बिना मीन-मेख निकाले गुरु की बात को स्वीकार कर ले ।

(७) **गुरु के अनेक शिष्य हैं,** सभी गुरु की व्यक्तिगत सेवा करना चाहते हैं क्योंकि व्यक्तिगत सेवा को सबसे ऊँची सेवा मानते हैं । यह उनका भ्रम है। यह संभव नहीं कि सभी शिष्य व्यक्तिगत सेवा में लग जाएँ । यह बात भी है कि यदि सभी शिष्य गुरु के आस-पास ही घूमना शुरू कर दें तो बाकी काम कौन करे ? भोजन बनाना, साफ-सफाई करना, बगीचे में पानी देना, बाजार करना, आने-जाने वालों का सत्कार करना, अनेक कार्य हैं जो गुरु सेवा के ही अन्तर्गत हैं । गुरु का मन बड़ा उदार होता है । सारा आश्रम उसमें समाया होता है । उनके सभी शिष्य उनकी संतान के समान होते हैं । जो शिष्य मौन रहकर, गुरु की नजर से दूर, आश्रम के अन्य कार्यों में लगा रहता है, उसकी सेवा को कम नहीं आँका जा सकता ।

(८) गुरु सेवा के साथ-साथ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि अन्य सेवकों के साथ प्रेम एवं सौहार्द बनाकर रखा जाए । गुरु सेवकों में प्राय : मन मुटाव हो जाया करता है जिसे सेवकों तथा सेवा –कार्य के हित में कदापि नहीं कहा जा सकता। अन्तत: तो गुरु कार्य की ही हानि होती है । जो शक्ति गुरु प्रदत्त कार्य में व्यय होना होती है, वह आपस में टकराने में व्यय होती रहती है तथा गुरू प्रसन्नता भी प्राप्त नहीं हो पाती ।

(९)सेवक को उदार हृदय होना आवश्यक है। गुरु के दर्शन करने के लिए बाहर से लोग आते रहते हैं, उनकी भी सेवा करने की इच्छा होती है । उन्हे सेवा का अवसर प्रदान करना सेवक का कर्त्तव्य है । कभी–कभी दूसरे को सेवा का अवसर देना भी सेवा ही होती है । इससे सेवक का महत्त्व कम नहीं होता, वरन् बढ़ता ही है ।

(१०) महाराजश्री सेवामय जीवन के विकास की बहुत महिमा कहते थे । उनका कहना था कि यदि थोड़ा समय सेवा में व्यतीत कर दिया जाए, बाकी समय राग–द्वेष युक्त व्यवहार में व्यतीत किया जाए तो साधक को अभीष्ट फल प्राप्त हो पाना कठिन है। यह ठीक है कि सेवा नहीं करने से, कुछ सेवा करना अच्छा है किन्तू आध्यात्मिक उत्थान के लिए जीवन का प्रत्येक पल तथा अपने द्वारा किया जाने वाला प्रत्येक कर्म, सेवामय होना चाहिए ।

(११) सेवक -साधकों में प्राय : यह वृत्ति देखी जाती है कि गुरु की समक्ष उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, किन्तु उनकी अनुपरिस्थिती में ढीले पड़ जाते हैं । उनका ऐसा मानना है कि गुरु महाराज अब यहाँ नहीं हैं, उन्हें गुरु शक्ति की सर्वव्यापकता पर विश्वास नहीं होता, अत: गुरु शक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकते । गुरु शक्ति पर, उसकी सर्वव्यापकता पर विश्वास रखते हुए, गुरु के समक्ष भी तथा उनसे दूर होने पर भी एक समान आदेश का पालन किया जाए ।

(१२) सेवक के लिए आवेश में आ जाना हितकर नहीं । सेवक तो सहनशीलता की मूर्ति होता है उसे बहुत मन मारना पड़ता है तथा फिर भी सेवा कार्य में लगे रहना पड़ता है । जो साधक छोटी- छोटी बात में आवेश में आ जाता है, वह अधिक देर सेवा नहीं निभा पाता । ऐसे कई साधक देखने में आए, जो आवेश में आ जाने पर, किसी से कुछ कहा–सुनी हो जाने से, सेवा - कार्य त्यागकर एक ओर हो जाते हैं या चल पड़ते हैं । उनकी दृष्टि में, उनका अभिमान, सेवा–कार्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । सहनशील व्यक्ति ही सेवा में लगा रह सकता है ।

(१३) सेवक का कर्त्तव्य है गुरु आदेश का पालन करना । गुरु को अपनी बात समझाकर, गुरु का मत परिवर्तित करने का प्रयत्न करना, सेवक

धर्म के विपरीत है । क्या पता गुरु महाराज के मन में क्या है । वह किसी कार्य विशेष से क्या सिद्ध करना चाहते हैं । यदि सेवक अपनी बात पर बल देने का प्रयत्न करता रहेगा, तो हो सकता है कि गुरु महाराज जो सिद्ध करना चाहते थे, वह कार्य छूट जाएगा। हो सकता है कि उस कार्य में शिष्य का कल्याण निहित हो ।शिष्य इस बात को नहीं समझ पा रहा हो ।

(१४) यदि सहनशीलता सद्भावना तथा प्रेम से गुरुसेवा की जाए तो यह शिष्य के प्रारब्ध क्षय में सहायक होती है । सेवा यदि शुद्ध स्वरुप में हो, तो उसका संस्कार संचय नहीं होता क्योकिं सेवक की कोई आशा नहीं होती, कोई कामना या आसक्ति नहीं होती । अत: सेवा संस्कार क्षय का कारण होती है ।

(१५) सेवा-कार्य महत्त्वपूर्ण है ही । इस समय यहाँ शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक सेवा की बात की जा रही है किन्तु इसके साथ एक अन्य प्रकार की सेवा का उल्लेख करना भी आवश्यक है, वह सेवा है गुरु प्रदत्त साधना का यथा संभव विकास, अर्थात् साधन भी गुरु सेवा समझकर ही करना । यदि साधन से गुरु सेवा का पक्ष हटा दिया जाए तो अभिमान खड़ा हो जाता है। अभिमान बंधन का कारण है । सेवाभाव ही अभिमान को दबा कर रखने में समर्थ है । सेवाभाव से नम्रता आती है। सेवाभाव में लक्ष्य-सेव्य सदा अभिमुख रहता है । सेव्य समक्ष नहीं होने पर भी, उससे तादात्म्य बना रहता है ।

सेवा से संबंधित उपर्युक्त सभी विचार साधक वर्ग के लिए तो हैं की, किन्तु मेरा चिन्तन तो मेरे अपने लिए था । अब अपना सिर कोल्हू में दे दिया था, संघर्ष करने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं था । इस गहन चिन्तन से जहाँ एक ओर मेरे मन की निराशा शान्त हो गई, वहीं आत्मिक बल भी प्राप्त हुआ । सेवा ही नई उमंग तथा नया उत्साह जाग्रत हो गया । जब मनुष्य गिरने लगता है तो तिनके का सहारा भी बहुत होता है । सहारा पाकर मैं जैसे उबर आया था ।

उन्हीं दिनों मुझे विचार आया कि साधन तथा सेवा के साथ-साथ कुछ, पूजा -पाठ तथा जप-जाप भी आवश्यक है। साधन हर समय हो नहीं सकता, सेवा करते हुए भी बीच- बीच में मन चंचल हो जाता है। कभी ऐसा जी चाहता है कि सब छोड़-छाड़ कर, किसी एकान्त स्थान पर जाकर, निरंतन साधन किया जाए । मन का यह स्वभाव हो गया है कि मनुष्य जहाँ लगा होता है, वहाँ से उखाड़ फेंकना । मन को इसी में आनन्द आता है, अत: मन पर सतत् संयम तथा सावधानी आवश्यक है । मन पर सवारी तनिक भी ढीली हुई कि वह मनुष्य को लेकर भाग खड़ा होता है । कभी साधन, कभी सेवा, कभी जप- जाप, तो कभी पूजा - पाठ । हर समय मन पर सवारी रखो । अत: नित्यप्रति

गीता-पाठ करने का विचार हुआ । शंकर पर अभिषेक करने के लिए मैं रुद्राष्टाध्यायी का अभ्यास कर ही रहा था, किन्तु गीता भारतीय अध्यात्म क्षेत्र का विशिष्ट ग्रन्थ है । दूसरे निवृत्तिपरायण एकान्तवास से निकलकर नया-नया प्रवृत्ति मार्ग में कार्यशील हुआ था, ऐसे में मार्गदर्शन के लिए गीता से उत्तम कोई ग्रन्थ नहीं था, किन्तु मेरी कठिनाई यह थी कि मेरे पास आश्रमसेवा का काम इतना अधिक था, कि एक स्थान पर बैठकर पाठ करने का मेरे पास समय ही नहीं था । यह बात मैं उन लोगों के लिए लिख रहा हूँ जो समय के अभाव का रोना रोते हैं । समय का अभाव एक बहाना मात्र है । यदि मन में दृढ़ निश्चय हो तो समय निकल आता है । सामान्यत: मनुष्य समय का इतना बिगाड़ करते हैं कि उसी समय में बहुत कुछ कर सकते हैं, किन्तु यदि समय वास्तव में ही नहीं है, तो भी निकाला जा सकता है ।

मैं खरीददारी के लिए बाजार तो जाया ही करता था । दिन में दो-तीन बार भी जाना पड़ जाता था । मैंने गीता का एक गुटका अपने पास रख लिया। बाजार जाते समय, प्रथम अध्याय का पाठ करता जाता था । एक बार पूर्ण हो जाने पर, फिर वही पाठ दोबारा शुरू कर देता था । बाजार पहुँच कर, जब खरीददारी करना होती थी, गुटका झोले में रख लेता था । खरीददारी पूरी हो जाने पर, पुन: प्रथम अध्याय का बार-बार पाठ प्रारम्भ हो जाता था । कुछ दिनों में प्रथम अध्याय मुखाग्र हो गया । मैं अब नित्यप्रति प्रथम अध्याय का पाठ तो करता ही था, बाजार जाते समय दूसरे अध्याय का पाठ प्रारम्भ कर दिया । आश्रम में भी रसोई में काम करते हुए या गुरु महाराज की कुटिया की सफाई करते हुए या बगीचे में काम करते हुए या कोई भी ऐसा कार्य जिसके साथ-साथ पाठ भी हो सकता हो, मैं गीता-पाठ करता जाता था। दूसरा अध्याय मुखाग्र हो जाने पर, मैंने तीसरा अध्याय आरम्भ कर दिया । जो अध्याय मुखाग्र होता जाता था, उसका पाठ दिन में कम से कम एक बार अवश्य करता था। जिसे मुखाग्र करना होता था, उसे बार-बार दोहराता रहता था । इस प्रकार अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी, मुझे सारी गीता मुखाग्र हो गई । फिर तो कार्य बड़ा सरल हो गया। जब भी अवसर मिलता, मैं गीता-पाठ करने लगता । यह बात अन्य साधकों के मार्गदर्शन के लिए लिखी गई है ।

श्री गुरु महाराज से मुझे बहुत प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ । कई बार मैंने अपने मन में, कई प्रकार की शंकाएँ उदय कर, महाराजश्री को परखने का प्रयत्न भी किया, जो कि मेरी एक मूर्खता ही थी, किन्तु हर बार गुरु महाराज के प्रति, श्रद्धा एवं आदर का भाव अधिकाधिक ही विकसित होता गया ।

महाराजश्री का व्यक्तित्व अनूठा तथा अलौकिक था । एक बार आश्रम में कोई भोजन बनाने वाला नहीं रहा । एक ब्राह्मण यह काम करते थे जो छोड़कर चले गए थे । बहुत तलाश हो रही थी, किन्तु कोई उपयुक्त व्यक्ति मिल नहीं रहा था। एक बूढ़ी महिला ने यह काम करने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करने का प्रस्ताव रखा । उसने कहा कि वह दोनों समय आकर भोजन बना जाया करेगी, किन्तु स्वयं घर जाकर भोजन करेगी । तब महाराजश्री ने कहा कि घर जाकर भोजन करने की क्या आवश्यकता है? यहीं भोजन कर लिया करना । उत्तर में उस महिला ने कहा, ''मैं महात्माओं का नहीं खा सकती । सेवा कर सकती हूँ।'' तब महाराजश्री ने कहा, ''जो भोजन बनाए, वह स्वयं भी अवश्य भोजन करे, ऐसा हमारा भी सिद्धान्त है । जो स्वयं भोजन नहीं करता, उसका बनाया भोजन हम ग्रहण नहीं करते ।'' महाराजश्री ने उसकी सेवाएँ स्वीकार करने से मना कर दिया ।

महाराजश्री दूसरों को खिलाकर बड़े प्रसन्न होते थे । बाँटकर खाओ, उनका मूल मंत्र था । हृदय उदार तथा विशाल था। अपने आप खा लेना तथा दूसरों को पूछना ही नहीं, यह स्वभाव में था ही नहीं । एक बार कोई बाहर से आए हुए भक्त आश्रम में ठहरे हुए थे । बाहर जाने लगे तो महाराजश्री से पूछा, ''क्या आप केला खाएँगे ? यदि आप ग्रहण करे तो कुछ लेता आऊँ !'' मैं पास ही खड़ा था । मुझ से महाराजश्री ने पूछा कि आश्रम में कितने लोग हैं । मैंने बता दिया कि कोई पच्चीस लोग हैं । फिर पूछा ''मकान बनाने का काम करने वाले मजदूरों को क्या गिन लिया ?'' मैंने कहा कि दस एक वह भी होंगे। महाराजश्री ने आगन्तुक व्यक्ति से कहा, ''यदि आपको केले लाना ही हैं तो सत्तर केले ले आओ । दो-दो केले सब खा लेंगे । एक हम भी ले लेंगे ।'' महाराजश्री की यह बात सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ । अभी तक, कभी-कभी दरवाजा बन्द करके मैं भी खा लिया करता था । कोई बैठा होता तो उसके उठकर चले जाने की प्रतीक्षा करता था कि यह चला जाय तो खाऊँगा, किन्तु महाराजश्री की उदारता देखकर मन ही मन, लज्जित होकर रह गया, किन्तु इस लज्जा ने भविष्य के लिए मेरा मार्गदर्शन कर दिया ।

महाराजश्री की जिस अन्य बात का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा, वह थी आपमें लोभ- वृत्ति का नितान्त अभाव । बड़े-बड़े साधको, महात्माओं तथा मण्डलेश्वरो को देखा, बड़ी -बड़ी बातें करते हैं, किन्तु जब लोभ, काम, क्रोध, अभिमान का अवसर आता है तो शून्य दिखाई देते हैं । महाराजश्री के व्यक्तिमत्व में बातचीत कम, किन्तु आध्यात्मिक गुणों की अत्याधिकता थी । महाराजश्री कभी धन के पीछे नहीं भागे । यदि कभी किसी ने कुछ भेंट किया भी तो वह यह देखते थे कि भेंटकर्ता की हैसियत क्या है तथा इतने धन की हमें आवश्यकता भी है या नहीं । महाराजश्री के नाम पर कोई बैंक - एकाउंट नही

था, न ही उनके नाम पर कोई जायदाद थी । जेब उनका था ही नहीं । वह कहा करते थे कि उनका खजाना शंकरजी के पास है, जब जितना ठीक समझते हैं, देते रहते हैं, अत: आश्रम पर धन की आवक अधिक नहीं थी । आय का मुख्य स्रोत गुरुपूर्णिमा था । उस समय जमाना सस्ता था । बहुत थोड़े में ही गुजर हो जाती थी । कुछ सेवा साल भर में आती रहती थी तथा कुछ गुरुपूर्णिमा की आय में से खर्च होता रहता था । अगली गुरुपूर्णिमा आने तक पिछला सारा धन समाप्त हो जाता था तथा नई आय हो जाती थी । जो सज्जन महाराजश्री का हिसाब किताब रखते, एक दिन मेरे पास आए तथा कहने लगे, "गुरु पूर्णिमा अभी दूर है, मेरे पास केवल चार सौ रुपये हैं । आश्रम का खर्च कैसे चलेगा ?" मैं भी नया था, कुछ अनुभव था नहीं । भगवान पर भी आस्था दृढ़ नहीं थी, अभिमान भी प्रचुर मात्रा में था । मुझे भी चिन्ता होने लगी । अन्तत: हम दोनों ने यही निर्णय लिया कि महाराजश्री से प्रार्थना करके बाहर जाने का कार्यक्रम बनवाया जाए । महाराजश्री की अनुपस्थिति में एक ओर आश्रम का खर्च कम हो जाएगा, दूसरी ओर कुछ सेवा भी बाहर से आ जाएगी । हम दोनों महाराजश्री के समक्ष उपस्थित हुए तथा सारी स्थिति स्पष्ट की तथा बाहर जाने का सुझाव भी दिया । महाराजश्री ने थोड़ी देर गम्भीरतापूर्वक विचार किया, फिर कहा, "अच्छी बात है, जैसा आप कहते हैं, वैसा ही कर लूँगा किधर का कार्यक्रम बनाया जाए ?" निश्चय हुआ कि गुजरात का कार्यक्रम ठीक रहेगा। निश्चय के अनुसार पत्र लिख दिए गए तथा उत्तर में सब लोगों के जवाब भी आ गए, जिनमें महाराजश्री के गुजरात की ओर आने पर प्रसन्नता व्यक्त की गई थी।

एक दिन मैं महाराजश्री के कमरे में गया तो बड़ी गम्भीर मुद्रा में बैठे थे। बोले, "सुनो, मैं धन प्राप्ति की आशा लेकर, आज तक कभी भी नहीं गया, जबकि आप लोग इस आशा से मुझे बाहर भेज रहे हो । मैं नहीं जाऊँगा । जैसे शंकर रखेंगे, उसी में कल्याण है ।" मैंने निवेदन किया कि अब तो पत्र जा चुके हैं तथा उत्तर भी आ गए हैं तो महाराजश्री एकदम बोल पड़े, "नहीं, मैं कहीं नहीं जाऊँगा । उन सबको पत्र लिख दो कि कार्यक्रम निरस्त कर दिया गया है । तुम्हारे पास गेहूँ तो रखे ही हैं। नमक से सूखी रोटी खाकर समय निकाल लेंगे । जो साधु धन प्राप्ति के लिए मारा-मारा भागता फिरे वह काहे का साधु ? साधु को बेपरवाह तथा हर हाल में प्रसन्न रहना चाहिए । जो भगवान दे, उसी के अनुसार रहने की आदत डालनी चाहिए ।" मैं सोचता रहा, सोचता रहा तथा महाराजश्री की महानता पर विचार करने लगा । कार्यक्रम निरस्ति के पत्र लिख दिए गए ।

साधना में संतोष का विशेष महत्त्व है । जब तक संतोष नहीं, साधना नहीं, संस्कारों का क्षय नहीं, मन की निर्मलता नहीं । संतोष ही सहनशीलता की जननी है । संतोष ही साधना का धन है । संतोषी कभी विचलित नहीं होता ।

महाराजश्री के व्यक्तित्व में संतोष के दर्शन हुए जो जगत् में क्वचित ही कहीं देखने को मिलता है। महाराजश्री जानते थे कि भ्रमण पर केवल जाना है तथा धन इकट्ठा करके ले आना है, पर फिर भगवान का भरोसा नहीं होता, धन का होता । संतोष नहीं होता, वासना होती, संस्कारों का क्षय नहीं होता, संचय होता। यही अंतर है एक साधक में तथा संसारी में ।

ऐसी ही घटना गुरुपूर्णिमा पर घटी । एक सज्जन ने महाराजश्री की सेवा में चालीस हजार रुपये रखे । महाराजश्री ने इतने रुपये देखे तो पूछा कि यह क्या है? उन सज्जन ने कहा, "आपकी सेवा में अर्पित है ।" महाराजश्री ने कहा, "नहीं, नहीं, हमको इतने रुपयों की आवश्यकता नहीं है, हमको इतने का क्या करना है?" तब वह सज्जन आग्रह करने लगे । महाराजश्री ने कहा, "देखो, यह धन तुम्हारे अकेले का नहीं है । तुम्हारी पत्नी, तुम्हारा लड़का, पोते-पोतियाँ, सभी हिस्सेदार हैं । पहले घर जाकर, संपत्ति का बँटवारा करो, उन सबके भाग का उन्हें दे दो, जो तुम्हारा हो, लेकर यहाँ आ जाओ, फिर बात करेंगे ।" वह सज्जन चले गए। महाराजश्री ने उनकी केवल सौ रुपये सेवा स्वीकार की ।

एक और घटना । आश्रम के ऊपरी हिस्से में, गुफा के पास एक मकान था, जो अब नहीं है । उन दिनों वह मकान बन रहा था धनाभाव के कारण अधूरा पड़ा था । उसे पूरा करने के लिए पाँच हजार रुपये की आवश्यकता थी। बड़वानी महाराज आए तो उन्होंने अधूरा पड़ा मकान देखा । महाराजश्री से पूछा कि मकान अधूरा क्यों पड़ा है ? महाराजश्री ने कहा, "जब तक हमारे पास पैसा था, काम चलता रहा, अब पैसा नहीं है तो बन्द करवा दिया ।" यह सुनकर बड़वानी महाराज ने सेवा में एक चैक भेंट कर दिया (अब यह याद नहीं है कि चैक कितने का था किन्तु पाँच हजार से काफी अधिक था) महाराजश्री ने चैक देखा तथा एकदम बोल पड़े, "इतना पैसा हम क्या करेंगे? मकान पूरा होने के लिए केवल पाँच हजार की ही आवश्यकता है।" और चेक वापिस कर दिया । अंततः बड़वानी महाराज को पाँच हजार का चेक देना पड़ा ।

महाराजश्री कभी भी धन लोलुप नहीं रहे । उनका कहना था कि आश्रम के स्वामी शंकरजी हैं, वही इसे चलाते हैं, वही देखभाल करते हैं । जब तक वह चाहेंगे आश्रम चलेगा । जब नहीं चाहेंगे बन्द हो जाएगा । हम अनावश्यक चिन्ता माथे पर क्यों लें । हमें बस यह देखना है कि हम अपना कर्त्तव्य-पालन कर रहे हैं कि नहीं। यही बात महाराजश्री ने १९६५ में मुझे उस समय कही थी, जब मुझे उत्तराधिकारी घोषित किया था, "आश्रम आप का नहीं, शंकर का है । आप का काम सेवा करना है, कर्त्तव्य-पालन करना है । आप को चिन्ता करना ही है तो सेवा-साधना की करो।"

मैं गुरु महाराज के किसी निर्णय में, वैसे तो किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता ही नहीं था, केवल आज्ञा पालन ही करता था, किन्तु जहाँ तक दीक्षा का संबंध है उसमें तो मैंने कभी हस्तक्षेप किया ही नहीं । ऐसे आश्रम में, मैं कोई विशेष महत्त्वपूर्ण व्यक्ति भी नहीं था । मुझ से बहुत पहले दीक्षित अनेक लोग थे । दीक्षा की दृष्टि से मैं बहुत छोटा था तथा मेरी स्थिती आश्रम की सेवा तक ही सीमित थी ।

एक पण्डितजी थे, विद्वान एवं पूजा–पाठी । ज्योतिष में भी योग्य माने जाते थे। आश्रम में कभी कभार आते थे, किन्तु जब भी वह आते तो पता नहीं क्यों मुझे अच्छे नहीं लगते थे। यद्यपि उनकी तथा मेरी कभी कोई बातचीत नहीं हुई, कोई मन– मुटाव नहीं हुआ । कोई लेन – देन नहीं था, कभी किसी प्रकार का होई विवाद नहीं हुआ । न जाने कौन से जन्म के परस्पर संस्कार थे कि वह मुझे अच्छे नही लगते थे । मैंने कई बार अपने मन को समझाया, किन्तु विरोधी भावों ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा । महाराजश्री भी उनका बहुत आदर करते थे । एक बार आए तो उन्होंने महाराजश्री से दीक्षा की प्रार्थना की । महाराजश्री ने भी हाँ कर दी तथा उन्हे दीक्षा का मुहूर्त बता दिया । मुझे दीक्षा की स्वीकृति अच्छी नहीं लगी । मैंने मन में सोचा कि पता नहीं क्यों महाराजश्री पण्डितजी को दीक्षा दे रहे हैं । जब दीक्षा का निश्चित दिन आया तो पण्डितजी नहीं आए, शाम को पता चला कि पिछली रात उन्हें पतले दस्त लग गए थे, जिससे प्रात: काल नहीं आ सके । मैं बड़ा प्रसन्न हुआ कि चलो एक मुसीबत टली । चार छह महीने फिर आश्रम में नहीं आए । दोबारा आए तो फिर दीक्षा के लिए आग्रह क्रिया, महाराजश्री ने फिर मुहूर्त दे दिया । महाराजश्री ने कहा, ''पण्डितजी, आपको स्वीकृति तो मिल ही चुकी है। सोचने– देखने की कोई बात ही नहीं ।'' जब फिर मुहूर्त आया तो पण्डितजी फिर नहीं आए । पता लगा कि उनके सेठजी ने उन्हे कार्यवश बाहर भेज दिया था ।

मैं प्रात: काल महाराजश्री के साथ घूमने जाता ही था । अधिकांशतया मैं अकेला ही साथ होता था । महाराजश्री घूमते समय कई प्रकार की आध्यात्मिक चर्चा किया करते थे । एक दिन मैंने उचित अवसर देखकर पूछा कि, ''वह जो पण्डितजी आते हैं, उनका मेरा कोई विवाद नहीं । कोई बातचीत नहीं । पता नहीं मुझे वह क्यों अच्छे नहीं लगते । जब–जब आपने उन्हें दीक्षा की अनुमति दी। मुझे अच्छा नहीं लगा ।''महाराजश्री बड़े जोर से हँसे और कहने लगे, ''अब समझ में आई कि तुम्हारा संकल्प ही पण्डितजी का रास्ता रोके खड़ा है । तभी वह किसी न किस विघ्न के वशीभूत हो गए तथा आ न सके ।'' फिर थोड़ा विस्तार से समझाते हुए बोले,''मनुष्य के संचित संस्कार चित्त को तरंगित करते रहते हैं। कभी कोई कारण नहीं होता और हम बड़े प्रसन्न होते हैं । कभी कोई बात नहीं होती किन्तु हम बड़े उदास हो जाते हैं । कोई व्यक्ति

स्वभावत: हमको अच्छा लगता है, जबकि दूसरे लोगों को वही व्यक्ति बुरा लगता है । हमें भी कोई व्यक्ति अकारण ही बुरा लगता है । यह सब पूर्व-संस्कारों के कारण होता है । संस्कार अन्दर ही अन्दर मन को प्रेरित करते रहते हैं । न जाने कौन-कौन से जन्मों के संस्कार उदय होकर, उदार होकर, चित्त को प्रभावित करते हैं । इन आन्तरिक तरंगों को देखना, उनके प्रवाह में नहीं बह जाना, साधक का कर्त्तव्य है । तुम्हारा मन चाहे तुम्हें कितना भी प्रेरित करता रहे, पण्डितजी की दीक्षा तुम्हें न अच्छी लगनी चाहिए, न बुरी ही ।''

मैं सोच में पड़ गया । पण्डितजी के विरुद्ध मेरे मन में संकल्प क्यों उदय हुआ। मैं अपने आपको उनका दोषी मानने लगा । भगवान से प्रार्थना करने लगा कि वह पण्डितजी आकर दीक्षा ले जाएँ, ताकि मेरे पाप का प्रायश्चित हो, किन्तु पण्डितजी फिर नहीं आए । मेरे मन में एक चुभन रह गई ।

आश्रम संबंधित व्यवहार में मैं बड़ा सँभल-सँभल कर चलता था । एक तो मेरा अपना मन कच्चा था, वासनाओं, विकारों से भरा हुआ । क्रोध तथा अभिमान का घर, वैसे प्रकट रूप में मुझे क्रोध कम ही आता था, पर अन्दर ही अन्दर सुलगता रहता था। आश्रम पर आने वाले प्राय: सब लोग बड़े अच्छे थे । वासनाओं तथा अवगुणों से छुटकारा प्राप्त करना चाहते थे, इसीलिए गुरु महाराज की शरण में आए थे, किन्तु जगत् सभी जगह एक समान नहीं है, कोई घर, दफ्तर, संस्था अथवा राष्ट्र का कोई अंग विकारों से अछूता कैसे रह सकता है । सब जगह लोग अच्छे होते हुए भी विकारों से ग्रसित हैं । राग-द्वेष भला इतनी जल्दी कहाँ पीछा छोड़ता है । निन्दा तथा चुगली से अपने आपको कैसे बचाया जा सकता है । मैं जगत् व्यवहार में एक प्रकार से नया ही था । कहाँ तो हिमालय की हरी घाटियों में एकान्तवास तथा कहाँ आश्रम का जनसम्पर्क। मैं अपने आपको भीड़-भाड़ भरे वातावरण में भी, एकान्त में रखने का यत्न करता था, पर फिर भी कभी-कभी मन को आघात लग ही जाता था । अन्दर-अन्दर क्रोध उबाल खाता था । जिस प्रकार ज्वालामुखी कई वर्षों के पश्चात् फूट पड़ता है, उसी प्रकार दबा हुआ क्रोध भयंकर रूप में प्रकट हो जाता है।

ऐसी ही एक घटना अभी मुझे याद आती है । एक आश्रमवासी जो कि गुरु महाराज के विशेष कृपापात्र, विश्वास-पात्र थे तथा अत्यन्त मनोयोग से सेवा करते थे, मेरे ऊपर भी बहुत प्रेम रखते थे, उनसे एक दिन कुछ कहा-सुनी हो गई । मेरा अभिमान एकदम जाग्रत हो उठा, क्रोध से शरीर काँपने लगा, मैं अपने आपको सँभाल न पाया । उन आश्रमवासी के बारे में तो मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है, किन्तु मैं आपे से बाहर हो गया था । शरीर में जैसे आग लग गई हो । आप जानते ही हैं कि क्रोध में बुद्धि कुंठित हो जाती है, विवेक-अविवेक का ध्यान नहीं रहता । ऐसी अवस्था में क्रोधी कुछ भी कर

गुजरता है। मुझे न तो अपने उत्तरदायित्त्व का ही ध्यान रहा, न ही सेवा का तथा न ही महाराजश्री के आदर का। गुरु महाराज की दिव्य मूर्ति आँखों के सामने से तमांधकार में विलीन हो गई। एक ही विचार आता कि आश्रम छोड़कर चले जाओ। देवास आने से पूर्व, हिमाचल प्रदेश में जहाँ था, वहीं का विचार बार-बार आने लगा। एकान्तवास कितना सुखकर है ! न किसी से विवाद, न झगड़ा। भजन करो तथा भिक्षारन करो। यहाँ आकर मैं कहाँ पचड़े में पड़ गया। दीक्षा के पश्चात् तुरन्त चले जाना ही ठीक था।

क्रोध की इसी अवस्था में, मैं महाराजश्री के पास जा पहुँचा और कहा कि मैं यहाँ नहीं रह सकता। मैं जा रहा हूँ। महाराजश्री ने मुझे कुछ समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु क्रोध में मनुष्य कहाँ किसी की बात सुनता है। वह तो आवेश में ही अपने होश गुम किए होता है। मैंने महाराजश्री की समझाइश को भी सुनने से इनकार कर दिया तथा चले जाने के अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। गाड़ी दूसरे दिन प्रातः नौ बजे जाती थी। मैंने घोषणा कर दी कि कल प्रात: चला जाऊँगा। अपने कमरे में जाकर पड़ गया। न खाना खाया, न ही महाराजश्री के पास ही दोबारा गया। न ही उन आश्रमवासीजी से ही कोई बात की।

रात को सोने का प्रयत्न किया, किन्तु नींद कहाँ ? अब तक क्रोध भी शान्त हो चुका था, विचार मन्थन आरम्भ हो चुका था। सारा घटनाक्रम चलचित्र की भाँति आँखों के सामने से होकर निकलता जा रहा था। मेरा एक यह स्वभाव बन चुका था कि मंथन करते समय सबसे प्रथम अपनी गलतियाँ देखता था। इस क्रम में दूसरों की गलतियाँ देखने का अवसर ही नहीं आता था। उन आश्रमवासीजी ने कोई गलती की या नहीं, इस बारे में मैं कुछ नहीं कहूँगा, किन्तु मुझे अपनी भूलें ही भूलें दिखाई दे रही थीं।

उन आश्रमवासीजी से गुरु महाराज प्रेम करते थे, इसलिए गुरु महाराज की प्रसन्नता के लिए मुझे सब कुछ सहन कर लेना चाहिए। जिसे गुरु महाराज प्रेम करें उससे घृणा, द्वेष या क्रोध करने का अधिकार शिष्य को कहाँ है ? फिर वह आश्रमवासीजी मेरे से कितना प्रेम करते हैं। मेरा कितना ध्यान रखते हैं। यदि उन्होंने कुछ कह भी दिया, तो अधिकार समझकर ही ऐसा किया, किन्तु मैंने उनके अधिकार का अनादर कर दिया। सबसे बड़ी दुःखदायक बात तो यह है कि मैंने महाराजश्री की बात का भी आदर नहीं किया। मेरे जैसा पापी और घमण्डी कौन होगा ? ऐसे गुरु महाराज, जिनके एक शब्द पर शिष्य को अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना चाहिए, के सम्मुख मैं अपने अहम् को लिए बैठा रहा। इस प्रकार मेरा मन ग्लानि से भरता चला गया। मन होता था कि अभी जाकर महाराजश्री के पाँव पकड़कर क्षमा याचना करूँ। उन आश्रमवासीजी से क्षमा माँगूं, किन्तु रात काफी हो चुकी थी। इस समय उनके आराम में विघ्न डालना उचित न समझा।

किन्तु प्रात:काल तक देर हो चुकी थी । सम्भवत: वह आश्रमवासीजी भी, रात भर सो न सके, वह भी विचार मंथन करते ही रहे । यह तो मैं नहीं जानता कि उनके सोचने की दिशा क्या थी, किन्तु प्रात:काल जब हम उठे तो वह कहीं दिखाई नहीं दिए। वह चले गए थे । बाद में गाँव से आने वाले एक व्यक्ति ने बताया कि उसने उन्हें मोटर स्टैण्ड की ओर जाते देखा था । उन आश्रमवासीजी के जाने के कारण, मेरा जाना रुक गया ।

मेरा मन बड़ा बेचैन हो उठा था । रह-रहकर, आश्रमवासीजी की याद आती थी कि न उन्होंने मुझे क्षमा कियां, न ही क्षमा माँगने का अवसर दिया । अब महाराजश्री से भी दृष्टि मिलाने में संकोच होता था । आश्रमवासीजी के जाने में कारण मैं ही था। न मैं उनसे टकराता, न वह जाते । मेरे नियमों का क्या हुआ? मेरी सहनशीलता कहाँ चली गई ? सबसे प्रेम करने वाली बात कहाँ रही ? एक वर्ष तक शान्तिपूर्वक सेवा करते रहने की बात का क्या हुआ ? मैं अपनी दशा पर बहुत रोया । क्या हो गया था मुझे ? मेरा विवेक कहाँ चला गया था ? क्या यही है साधक का जीवन ? मैं बार-बार अपने आपको धिक्कारने लगा। अब महाराजश्री के समक्ष जाने में भी डर लगने लगा । जब भोजन का समय हुआ, तो मैं डरते-डरते निवेदन करने के लिए, उनके पास पहुँचा, किन्तु महाराजश्री ने कुछ नहीं कहा, पर उनका मौन बहुत कुछ कह गया ।

इस घटना ने मुझे झकझोर के रख दिया । मेरा सारा अभिमान एवं क्रोध एक लावारिस बछड़े की तरह होकर रह गया । अभिमान मरा तो नहीं पर दब अवश्य गया। आश्रमवासीजी चार महीनों में लौट आए । आने पर मैंने उनसे क्षमा माँग ली। पता नहीं उन्होंने क्षमा किया भी या नहीं, पर मेरा मन फिर भी शान्त नहीं हुआ ।

अपनी ही लगाई हुई अग्नि से मन जल रहा था । मैंने अपने बनाए हुए नियमों का और भी सख्ती से पालन करना आरम्भ कर दिया । मुझ पर यह स्पष्ट होता जा रहा था कि जीव प्रारब्ध के समक्ष कितना विवश है । वासना जब जोर मारती है तो बड़े-बड़े योद्धा धराशायी हो जाते हैं । मुझे यह भी पता लग रहा था कि अपने मन के साथ लड़ना कितना कठिन है ? इस आन्तरिक युद्ध के आगे बाह्य जगत् का बड़े से बड़ा युद्ध कोई अर्थ नहीं रखता । एक गिरता है तो हम हँसते हैं, दूसरे दिन हम स्वयं चित्त हो जाते हैं, फिर दूसरे हम पर हँसने लगते हैं । भगवान की लीला तो भगवान जाने, मन की लीला हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं ।

मैंने फिर से प्रयत्न करना आरंभ कर दिया, किन्तु अब ऐसा प्रतीत होता था, जैसे आरम्भ से ही आरम्भ कर रहा हूँ । चाहे अस्वाभाविक रूप से ही सही, मैं रास्ते में पड़े पत्थर की तरह होकर रह गया । आते-जाते लोगों की ठोकरें लगती ही रहती थीं । लोगों को यह भी ज्ञात नहीं था कि वे मुझे ठोकर मार रहे हैं । पत्थर कोई प्रतिकार नहीं करता, जिधर ठोकर लगती है, उधर ही

लुढ़क जाता है । न कोई शिकायत करता है, न गाली बकता है । बस मौन पड़ा रहता है । जगत् की यह परिपाटी है कि जितनी अधिक सेवा करो, जितना अधिक प्रेम करो, जितना अधिक सहन करो, उतना ही अधिक सताता है । मैंने अपने आपको रास्ते का पत्थर बनाया तो जगत् और भी खुल खेला । कभी अधिक आघात लगता तो चेहरे पर भाव अवश्य उभर जाते या मुँह से आह निकल जाती । मैं बार-बार मन को यही समझाता था कि यह सब प्रारब्ध है। अन्तर की पीड़ा को कोई क्या समझे ? न ही किसी के पास समझने का समय है । फिर जगत् से कैसा गिला और काहे की शिकायत । मुझे तो एक बड़ा भारी सहारा प्राप्त था, श्री गुरु महाराज । यदि इस सहारे को कोई पकड़े रखे तो वह अन्तिम लक्ष्य तक ले जा सकता है ।

गुरुकृपा से यह बात समझ में आ गई थी कि व्यवहार का अध्यात्म से घनिष्ठ संबंध है । व्यवहार से ही अधोगति होती है तथा व्यवहार ही चित्त शुद्धि का कारण है । व्यवहार ही नरक में ले जाता है तथा व्यवहार ही स्वर्ग को भी ठुकरा देता है। इसलिए व्यवहार शुद्धि के लिए, प्रवृत्ति मार्ग अथवा कर्मयोग का अभ्यास आवश्यक है । व्यवहार ही मन को जगत् के रंग मे रँग देता है तथा व्यवहार ही उस रंग को धो भी डालता है । जहाँ साधन के लिए एकान्त आवश्यक है, वहीं व्यवहार शुद्धि, शुद्ध-व्यवहार करने से ही सम्भव है । संभवतया महाराजश्री ने इसलिए मुझे आश्रम छोड़कर अभी एकान्तवास में जाने से मना कर दिया ।

मैं विवेकहीनता के कारण, इस बात के मर्म को नहीं समझ पाया तथा अन्य लोगों की तरह शीघ्रताशीघ्र पारमार्थिक उन्नति करना चाहता था । उसके लिए कोई छोटा रास्ता ढूँढना चाहता था, अतः मैं ऊँची छलाँग लगाना चाहता था तथा हिमाचल प्रदेश में सतलज के किनारे कुटिया बनाकर, निवृत्तिपरायण होकर, साधनरत हो जाना चाहता था, यह मेरी भूल थी । निवृत्ति इस प्रकार उदय नहीं हुआ करती । जब तक निवृत्ति की स्वाभाविक अवस्था प्राप्त नहीं हो, तब तक कैसी निवृत्ति ? उस समय तक मैं निवृत्ति तथा प्रवृत्ति में तुलना किया करता था । यह समझ तो श्री गुरु महाराज से प्राप्त हुई कि यदि निवृत्ति चाहते हो तो पहले प्रवृत्ति को अपनाओ । गुरु महाराज इस तथ्य से भलीभाँति अवगत थे कि मेरा प्रारब्ध-क्षय प्रवृत्ति मार्ग में ही सम्भव है, अतः उन्होंने मुझे सँभाल लिया तथा एकान्तवास में जाकर साधन करने से रोक दिया। महाराजश्री की असीम कृपा ही है कि उन्होंने मुझे जगत् की सारहीनता का अनुभवयुक्त ज्ञान कराया । जगत् में कोई किसी का नहीं है, सब स्वार्थ के नाते है । जगत काम, क्रोध, लोभ तथा मोह से आच्छादित है । जगत् सदैव रूपधर्म तथा गुणधर्म बदलता रहता है । उन्होंने इन सब बातों का प्रत्यक्ष अनुभव करवाने के लिए आश्रम में रहकर ही सेवा-साधना के लिए प्रेरित किया ।

इस बात को श्री गुरु महाराजजी बार-बार समझाते थे कि साधना में उन्नति का वास्तविक आधार चित्तस्थिति है । यदि चित्तस्थिति नहीं बनी, तो साधन कैसा भी चलता रहे, क्रिया कैसी भी होती रहे, साधक अभी लक्ष्य से दूर है । इस बात पर विचार करते-करते, एक दिन में अपने बिस्तर पर लेटा था । अपनी चित्तस्थिति मेरे समक्ष थी । अभी चित्त-शुद्धि बहुत दूर है, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ । मैं नित्यप्रति गीता पाठ करता था, परन्तु गीता के अन्दर दिए गए भक्त के लक्षण मेरे में नहीं थे । यह ठीक है कि मैं बहुत कुछ कर चुका था, किन्तु उससे भी कहीं अधिक करना शेष था। ऐसा आभास हो रहा था । इस प्रकार विचार करते-करते एक कथा याद आई । कथा इस प्रकार है -

पंजाब में साधुओं का सुथरा नामक एक सम्प्रदाय है, जो हाथ में लोहे के कड़े पहन कर तथा एक डंडे से उन्हें बजाकर गाते हुए माँगते हैं । यह कथा उनके आदि पुरुष से संबंधित है । कहीं पर सत्संग-कीर्तन हो रहा था । सुथरा भी वहाँ जाकर बैठ गया । जब एक भजन पूर्ण हुआ तो सुथरा मुँह घुमाकर बैठ गया । जब दूसरा भजन हुआ तो उसने गाने वाले की ओर पीठ कर ली । तीसरा भजन हुआ तो वह उठकर चल दिया । लोगों को उसका बरताव बहुत बुरा लगा । कुछ नवयुवक उसके पीछे भागे तथा पकड़कर उसे मारने लगे । उधर से एक वृद्ध महानुभाव आ गए । उन्होंने कहा, "अरे भई, इस प्रकार इसे क्यों मारते हो ?" तब उन युवकों ने, उसने जो कुछ किया था, कह सुनाया । वृद्ध पुरुष ने सुथरा से कहा कि भई तुमने ऐसा क्यों किया? उसने उत्तर दिया, "जब पहला भजन हुआ तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी ने मेरे मुंह पर एक पत्थर मार दिया हो । मैंने मुँह घुमा लिया । दूसरा भजन हुआ तो एक पत्थर और आया । मैंने उधर पीठ कर ली । तीसरा भजन हुआ तो जैसे किसी ने मेरी पीठ पर जोर से मारा हो । मैं सहन नहीं कर सका और उठकर चल दिया । आप लोग धन्य हैं, जो नित्यप्रति पत्थर तथा थप्पड़ खाते रहते हैं तथा फिर भी बैठे रहते हैं ।"

कुछ ऐसी ही दशा मुझे अपनी भी प्रतीत हुई । गीता पाठ रोज करता था, महाराजश्री का सत्संग भी रोज करता था । सेवा-साधन भी होता ही था । ऐसा लगता था जैसे सब ऊपर-ऊपर से ही निकल जाता था, हृदय अछूता ही रह जाता था, मन की गाँठ नहीं खुल पाती थी । परिणामतः चित्तस्थिति बदलने का नाम ही नहीं लेती थी ।

मेरी ही तरह अन्य लोगों की स्थिति भी होगी, परन्तु मुझे दूसरों से क्या लेना है ? यह निश्चित था कि मेरी चित्त स्थिति नहीं बदल रही थी । इतनी जल्दी बदल भी कैसे सकती है ?

संत तथा शास्त्र चिल्ला-चिल्लाकर शान्त हो गए, किन्तु मनुष्य के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी । एक से सुना, दूसरे से निकाल दिया । संभवतः भगवान्

ने दो कान दिए भी इसीलिए हैं । अधिक से अधिक उपदेश की पहुँच बुद्धि तक ही होती है । हृदय अछूता रह जाता है, फिर भला वह भीगेगा कैसे ? बुद्धि पर माया का आवरण पड़ा है, वह सुनकर ठीक निर्णय कैसे करेगी ? यही स्थिति मेरी थी । पाठ करता था, केवल मुँह से, समझने से कुछ लेना-देना नहीं । फिर जीवन में उतारने की बात ही कहाँ रही । लोग कहते हैं कि मैं बड़ा भक्त हूँ, सारी गीता मुखाग्र है, रोज पाठ करता हूँ, किन्तु अपनी स्थिति मुझे ही मालूम है । पाठ करता हूँ, केवल मुँह से, तोते की तरह, समझने से कोई संबंध नहीं । थोथा चना, बाजे घना वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी । सोचते-सोचते इस स्थिति ने मुझे व्यथित कर दिया । मैं अकेला बैठा रोने लगा । इन्हीं विचारों में नींद आ गई ।

महाराजश्री बड़े दयालु थे । ऐसी अवस्था में अवश्य सँभाल लेते थे । रात को स्वप्न में आ गए । बोले, "पाठ मुँह से अवश्य किया जाता है, किन्तु मन लगाकर । फिर बुद्धि से अर्थ को तथा हृदय से भाव को समझकर । तुम्हारा मन कहीं ओर होता है, मुँह हिलता रहता है । जिस शास्त्र का तुम पाठ करते हो, वह मन तक नहीं पहुँचता। मन तक नहीं पहुँचेगा तो जीवन में कैसे उतरेगा ?"

प्रातःकाल भ्रमण में गया तो महाराजश्री से मैंने रात के स्वप्न की बात की। बोले, "स्वप्न में यदि गुरु, महात्मा, भगवान का कोई स्वरूप, मन्दिर आदि दिखाई देते हैं, तो यह शुभलक्षण हैं । इसका अर्थ है कि स्वप्न के समय चित्त सत्त्व गुण प्रधान था । स्वप्न में यदि कोई उपदेश प्राप्त हो तो उसे आचरण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए । यह स्वप्न दीक्षा भी कही जाती है । स्वप्न में शक्तिपात् भी होता है । तुम्हें स्वप्न में जो उपदेश मिला है वह अपने आपमें ही स्पष्ट है । मन पर सवारी करने का प्रयत्न करो । केवल मुँह हिलाते रहने से मन पर सवारी नहीं होती ।"

आसक्ति ही जगत् व्यवहार का कारण है, तो आसक्ति ही बंधन का कारण भी है । आसक्ति मन में जगत् के प्रति उत्साह पैदा करती है तथा आन्तरिक उन्नति का मार्ग भी अवरुद्ध कर देती है । एक बार की घटना मुझे अभी तक याद है । आश्रम में एक पुश्ता (Retaining wall) बन रही थी । जितना भी समय उपलब्ध होता था, मैं स्वयं ही उसे बना रहा था । इस काम में काफी दिन लग गए थे, किन्तु वह अभी तक पूरा नहीं हो पा रहा था । एक ब्रह्मचारीजी और थे । हम दोनों ने सोचा कि आज उसे पूरा कर ही दिया जाए। हम दोनों इस काम में भिड़े थे कि सायंकालीन सत्संग का समय हो गया । महाराजश्री सत्संग हाल में पहुँच चुके थे । हमने निर्णय किया कि आज का सत्संग छोड़ दिया जाए । उन दिनों योग-दर्शन पर प्रवचन चल रहे थे। महाराजश्री ने श्रोताओं की ओर देखा, हम दोनों अनुपस्थित थे । पूछा कि वे दोनों कहाँ हैं । उत्तर मिला, दीवार बना रहे हैं । महाराजश्री उठे और हमारे

पास आकर कहने लगे, "देखो जी, आपको दीवार बनाने के काम में आसक्ति हो गई है । आसक्ति विघ्न है । आसक्ति में मिठास का आभास है । आसक्ति बुद्धि को कुण्ठित कर देती है । यह समय सत्संग का है । आपको वहाँ उपस्थित होना चाहिए था । इस काम को छोड़ो और सत्संग में चलो ।" हमने काम छोड़ दिया ।

महाराजश्री ने अपने प्रवचन में भी इस बात पर प्रकाश डाला, "लोग मानसिक एवं शारीरिक स्तर पर जगत् में उलझ जाते हैं, इसका परिणाम यह होता है कि जब जो काम करना चाहिए, नहीं कर पाते । जिस काम में आसक्त हो जाते हैं उसी को किए जाते हैं, जिससे दूसरे आवश्यक कार्यों की हानि होती है । फिर समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं, फिर मन विक्षिप्त हो जाता है । यह सब आसक्ति के कारण होता है । आसक्ति मनुष्य को उचित समय पर, उचित निर्णय लेने से रोकती है, जिससे मन दुर्बल हो जाता है । आप यह जानते ही हैं कि मन की दुर्बलता मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या है । अपने मन को ऐसी आदत डालो कि जब जो कर्त्तव्य हो उसी में लग जाए और जब जो काम छोड़ देना कर्त्तव्य हो, उधर से निवृत्त हो जाए, यही गीता के उपदेश का सारांश है। मन की ऐसी आदत के बिना योग-साधना हो पाना भी सम्भव नहीं ।"

रात भर विचार घूमते रहे । कभी अपनी मूर्खता पर हँसी आती तो कभी मन में उदासी छा जाती । प्रात: महाराजश्री के साथ घूमने गया, तो कुछ अनमना सा था । महाराजश्री ने पूछा, "क्या सोच रहे हो ?" उत्तर दिया, "कल सायंकाल की अपनी मूर्खता पर विचार कर रहा हूँ ।" इस पर महाराजश्री ने कहा, "निवृत्ति प्राप्त करने का यही उपाय है । जब जिस कार्य को छोड़ देना कर्त्तव्य हो, उसमें कितनी भी आसक्ति क्यों न हो, उसे शारीरिक एवं मानसिक रूप से त्याग दिया जाए । उधर से पूर्णतया निवृत्त । इस प्रकार मन आसक्ति का त्याग करना सीख जाएगा तथा कर्त्तव्य कर्मों के करने का अभ्यस्त हो जाएगा। चित्त शुद्ध हो जाने पर कर्त्तव्य-कर्म भी अपने सामने से हट जाएगा तथा निवृत्ति का उदय होगा । लोग निवृत्ति की केवल चर्चा ही करते हैं, प्राप्त करने के लिए कुछ नहीं करते । जब तक प्रवृत्ति में रहना है, तब तक तो रहना ही पड़ेगा । झूठी निवृत्ति का आवरण ओढ़ लेने से कोई लाभ नहीं ।"

मैंने कहा, "सामान्य मनुष्य के लिए तो यह बड़ा कठिन है । उसे जगत में कई विवशताएँ होती हैं, जिसके लिए उसे अनुचित एवं अनावश्यक कार्यों में लगा रहना पड़ता है ।" महाराजश्री ने कहा, "तुम जगत् की चिन्ता छोड़ दो । जगत् अपने मन की दुर्बलता के कारण, कई प्रकार की विवशताओं की कल्पना कर लेता है । तुम्हारा मार्ग उन लोगों से भिन्न है । तुम बहुत कुछ कर पाने में स्वतन्त्र हो । यदि तुम अपनी इस स्वतन्त्रता को नहीं पहचान पाओ, तो बात

दूसरी है । अभी कल की ही बात लो, यदि दीवार एक ही दिन में नहीं पूरी होती है, तो कौन-सा पहाड़ टूट पड़ेगा । यदि पंद्रह दिन भी लग जाएँ तो हमारी कौन-सी हानि है । तुम जो सेवाकार्य करते हो वह तुम्हारे आध्यात्मिक-उत्थान के लिए है । यदि आध्यात्मिक उत्थान नहीं होता है, तो सेवा करने के तरीके तथा भावना में कोई त्रुटि है ।''

एक दिन मेरे मन में विचार आया कि गुरु महाराज ने इतनी पुस्तकें लिखी हैं तथा उनमें कई प्रकार के आध्यात्मिक रहस्य भरे पड़े हैं, किन्तु उनकी बिक्री की कोई समुचित व्यवस्था नहीं होने से वे जन साधारण तक नहीं पहुँच पाती तथा वे संभावित लाभ से वंचित रह जाते हैं । घूमने जाते समय मैंने, एक दिन इसकी चर्चा की, ''महाराज जी, क्या यह अच्छा नहीं होगा कि आपकी पुस्तकों की बिक्री को सुसंगठित किया जाए ? आपने इतना परिश्रम करके, इतना अच्छा साहित्य लिखा है, किन्तु वह जन सामान्य तक नहीं पहुँच पा रहा है ।'' महाराजश्री कुछ समय तक तो मौन बने रहे फिर बोले, ''देखो, मुझे एक कोट पहनने की इच्छा हुई । मैं बाजार गया, कपड़ा पसंद किया, सिलवाया तथा कोट पहन लिया । मेरी इच्छा पूरी हो गई तो कोट खूँटी पर टाँग दिया । अब कोट खूँटी पर टँगा रहे या उसे कोई ले जाए, मुझे कोई अन्तर नहीं पड़ता । मेरा शौक तो पूरा हो ही चुका है । हमने पुस्तकें, कोई बड़ा लेखक या प्रसिद्ध हो जाने की कामना से नहीं लिखीं, न ही व्यापार करने के लिए लिखी हैं। हमने तो स्वयं, विषय को समझने, अपना मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए, अपने मन के संतोष के लिए लिखी हैं । लिखने के पश्चात् जब वह छपती हैं, तो उन्हें साधक वर्ग में बाँट देते हैं । बस हमारा शौक पूरा हो गया । हमने कोट खूँटी पर टाँग दिया, जो हो सो हो ।''

मैंने पुनः निवेदन किया, ''महाराज जी आपका शौक तो पूरा हो गया, किन्तु यदि उसके साथ-साथ जन कल्याण भी हो जाए, तो क्या बुरा है ?'' कहने लगे, ''जिसको अपने कल्याण की चिन्ता होती है, वह कुछ भी करके मार्ग खोज लेता है। जिसे अपने कल्याण की चिन्ता नहीं उसका दरवाजा खटखटाने से भी क्या लाभ ? जन-कल्याण के लिए प्रयत्न वास्तव में अपने लाभ के लिए होता है ।'' मैं अब आगे क्या कहता, चुप हो गया ।

आश्रम वापिस आकर विचार करता रहा । महाराजश्री का दृष्टिकोण कितना व्यावहारिक एवं युक्तिसंगत है । स्वाध्याय एवं लेखन को भी साधन का अंग बनाया जा सकता है । साधन के अंग का भाव नहीं, तो अभिमान आसक्ति का कारण बन जाता है । ऐसी ही व्यक्तिगत अनुभूतियाँ मुझे तब हुईं जब मेरी प्रथम पुस्तक ''साधन-पथ'' प्रकाशित हुई ।

१९६० में मुझे सायटिका हो गया । उस समय कई अनुभव हुए जो एक

अलग विषय है । कुछ समय तक बिस्तर पर पड़ा कराहता रहता । जब कुछ आराम हुआ तो लगभग एक महीने तक चलना-फिरना बन्द रहा । बिस्तर पर पड़े-पड़े क्या करता? निज के मार्गदर्शन के लिए साधन संबंधी छोटे-छोटे नोट लिखता रहता । उस समय मैं अहमदाबाद में था, जहाँ एक सज्जन मुझे उपचार के लिए ले गए थे । उस समय तक मुझे हिन्दी का सामान्य सा ही ज्ञान था । नोट्स उर्दू में लिखता था । महाराजश्री उर्दू जानते थे । उन्होंने पढ़कर कहा, "ठीक है, इन्हें हिन्दी में रूपान्तरित कर दो ।" जब मैंने उन्हें हिन्दी में कर दिया तो महाराजश्री ने भूमिका लिख दी, कहा, "इन्हें छापने के लिए ऋषिकेश भेज दो ।" मैं यह सुनकर अवाक् रह गया, "महाराज जी मैं कौन-सा लेखक हूँ ! यह सब तो मैंने अपने लिए लिखा है ।" उत्तर मिला, "लेखक ऐसे ही बनते हैं । यह तो शुरुआत है । ऋषिकेश भेज दो ।" मैंने पाण्डुलिपि भेज दी । पुस्तिका छपकर आ गई । महाराजश्री ने कहा, "लेखन को ही मुख्य साधन मत समझ बैठना, यह तो सहायक अंग है । हमने भी कुछ लिखा है, इसलिए लिखते समय की चित्त अवस्था को थोड़ा समझते हैं । कई लोग लिखने का मजाक उड़ाएँगे तथा इस कार्य से विरत हो जाने की राय देंगे, किन्तु सहायक अंग में साधन के लिए अच्छा है । इससे विचारों का मंथन होता है । शंकाओं के समाधान का मार्ग प्रशस्त होता है, हृदय में भाव बढ़ता है, पर अभिमान में मत जाना । 'मैं लेखक हूँ' ऐसा अहम् लेखन के लाभ से वंचित कर देता है ।"

फिर भी प्रथम पुस्तक थी, मन प्रसन्नता से भर गया । अन्दर का अभिमान जागृत हो ही गया । चाल में भी अकड़ आ गई । सोचने लगा किसी अन्य साधक ने अभी तक कोई पुस्तक नहीं लिखी, केवल मैंने ही लिखी है । बार-बार पुस्तक को देखता । उस पर छपा अपना नाम पढ़ता, अभिमान द्विगुणित हो उठता । जब किसी को पुस्तक पढ़ते देखता तो आशा करता कि वह इसकी प्रशंसा करेगा । जब कोई प्रशंसा करता, तो अन्दर ही अन्दर मन गदगद हो जाता, किन्तु बाहर से अत्यन्त विनम्र होकर कहता, "यह सब तो गुरु महाराज की ही कृपा है । अन्यथा मैं कहाँ का लेखक !" रही-सही कसर शुभचिन्तकों ने पूरी कर दी, प्रशंसा के पुल बाँध-बाँध कर ! अभिमान बढ़ता गया ।

ऐसा लगता है मेरा यह अभिमान गुरु महाराज से छुपा नहीं रह सका । गुरु अपने शिष्य का अभिमान सहन नहीं कर सकते । वह जानते हैं कि यदि इसका अभिमान बना रहा तो इसका पतन अवश्यंभावी है । उन्होंने सीधे तो मुझे कुछ नहीं कहा किन्तु सायंकालीन सत्संग में इस प्रकार भाव व्यक्त किए ।

"यदि गायक भाव-विभोर होकर भगवान के समक्ष हृदय की वेदना व्यक्त नहीं करता, तो श्रोताओं के मनोरंजन के लिए गाता है । उसका ध्यान इसी ओर लगा रहता है कि श्रोताओं पर गायन का क्या प्रभाव पड़ रहा है, तो उसमें

गायकी का अभिमान बढ़ता जाता है । मंदिर का पुजारी यदि भगवान की सेवा-भाव से पूजा-अर्चना नहीं करे तो उसका ध्यान इसी ओर बना रहता है कि किस भक्त ने क्या चढ़ाया । उसमें लोभ बढ़ता जाता है । वाचक-ज्ञानी भगवान को खोजने के वास्तविक लक्ष्य से हटकर, लोगों को ज्ञान प्रदान करने में लग जाता है । अपने अन्तर में अंधेरा समेटे, दूसरों को प्रकाश दिखाने का यत्न करता है । अभिमान बढ़ता जाता है । उसी प्रकार यदि कोई लेखक भी अपने दोषों से उदासीन हो जाए, ख्याति अथवा धन के लिए लिखने लगे तथा इस प्रकार अपने आपको बड़ा लेखक मान बैठे, लेखन को साधन के सहायक अंग के रूप में स्वीकार करने के स्थान पर उसी को मुख्य मान बैठे, तो अभिमान का उदय हो उठना स्वाभाविक है । ऐसा साधक चाहे कितना भी लेखन कार्य करे, कुछ प्राप्त नहीं होता ।''

मुझे यह समझते देर न लगी कि संकेत मेरी ओर ही है । मन में बड़ा लज्जित हुआ । बात भी ठीक थी । लोकेषणा, धन-प्राप्ति का लक्ष्य, अभिमान, यह तो अपना उद्देश्य नहीं है । यह सब प्राप्तव्य में बाधक हैं । लिखने वाला भला मैं कौन ? पता नहीं कौन शक्ति हाथ पकड़कर लिखवाती है । बुद्धि में विचार तथा हृदय में भाव उदय करती है, फिर अभिमान कैसा ?

सायटिका का मैं बड़ा आभारी हूँ कि उसने मेरे कई मोह भंग कर दिए। कई अभिमान चकनाचूर कर दिए । जिनकी मित्रता पर मुझे बड़ा नाज़ था, समय पर कोई काम नहीं आया । जिनको अपना समझता था, उन्हें मुँह फेरते देखता । १९६० में मुझे बड़ा भयंकर सायटिका हुआ । उठना-बैठना-चलना सब दूभर हो गया । यह समझ नहीं आती थी कि पाँव किस स्थिति में रखा जाए जिससे दर्द नहीं हो । रात-रात भर चिल्लाता रहता था । महाराजश्री रात में कई-कई बार उठकर आते थे तथा मुझे सँभालने का प्रयत्न करते थे । खाना-पीना सब बन्द सा हो गया था । बाथरूम जाना भी एक समस्या थी । कोई दूसरे व्यक्ति उठाकर, मुझे बाथरूम ले जाते थे, पर हर समय दूसरा व्यक्ति पास नहीं होता था । कौन मेरे कमरे में झाड़ू लगाए, कौन मेरा बिस्तर बदले, कौन स्नान कराए । इतवार को महू से एक सज्जन आया करते थे । उस दिन कमरे में झाड़ू लगती, बिस्तर बदलता, मेरे कपड़े बदलते, स्नान होता इत्यादि । लोग संभवतया यही समझते थे कि बीमार की कौन सेवा करे ? उसे अपने घर चले जाना चाहिए, किन्तु जब एक बार घर छोड़ दिया तो लौट के क्या जाना ? आने-जाने वाले लोग सर्वप्रथम तो मेरे कमरे में आते ही नहीं थे । आते भी थे तो-कितना कष्ट है ! कहकर निकल जाते थे । जिन लोगों से मैं प्रेमपूर्वक व्यवहार करता था, आदर करता था, आने पर चाय बनाकर पेश करता था, किसी ने भी

झाँककर देखा तक नहीं । उस समय आश्रम पर मेरा कोई महत्त्व भी नहीं था। लोगों की दृष्टि में मैं केवल एक सेवक था ।

मुझे किसी से कोई गिला-शिकायत नहीं है । मैं तो सब लोगों का आभारी हूँ कि उन्होंने जगत् की वास्तविकता देखने में मेरी सहायता की । जगत् कितना तोताचश्म है, यह दिखा दिया । मैं अपने कमरे में पड़ा कराह रहा होता तथा लोग बाहर से सुनकर चले जाते । उस समय के कई लोग अब जगत् में नहीं हैं, जो हैं उनसे मेरे संबंध अच्छे हैं । कभी किसी को उलाहना नहीं दिया । बस मन को यही समझा लिया कि जगत् ऐसा ही है । मेरी आश्रम में अभी स्थिति ही क्या थी, न संन्यासी, न ब्रह्मचारी । लोग मुझे नौकर समझते थे। फिर गिला भी किससे । क्या अधिकार है मेरा किसी पर ? वास्तव में यह अवसर होता है जब किसी सेवक की मानसिक स्थिति को परखा जा सकता है । वह इसलिए सेवा नहीं करता कि लोग बदले में उसकी सेवा करें । वह इसलिए सेवा करता है कि उसका कर्त्तव्य है, किसी आशा से नहीं, किसी उद्देश्य से नहीं । वह जितनी अधिक पीड़ा सहन करता है, उतना ही उसका मन ऊपर उठता है । फिर मेरी दयनीय स्थिति पर किसी की कर्त्तव्य-दृष्टि पड़ी तथा वह मुझे देवास से उठाकर इन्दौर ले गए । वहाँ कुछ देखभाल की, उपचार हुआ, मैं थोड़ा ठीक होकर देवास लौट आया ।

किन्तु सायटिका ने जगत् की असारता मुझ पर स्पष्ट कर दी । मेरी आँखें खोल दीं । जो बात अनेक शास्त्र पढ़ने तथा प्रवचन सुनने पर भी समझ नहीं आती, सायटिका ने प्रत्यक्ष अनुभव करवा दी । जगत् में कोई किसी का नहीं, सब स्वार्थ के नाते हैं, किसी पर विश्वास न करो, यह सब बातें स्पष्ट हो गईं। अब जगत् केवल कर्त्तव्य करने के लिए था, सेवा के लिए, रजोगुण के शमन के लिए था, संस्कार-क्षय का माध्यम ।

बात करना चाहता तो नहीं था, पर रह न सका, मैंने महाराजश्री से बात कर ही दी । महाराजश्री मेरी मनः स्थिति को समझ गए बोले, "देखो, यह जगत् समुद्र की लहरों के समान है, रूप बदलता रहता है । कोई लहर ऊँची तो कोई नीची । कोई आपके सिर के ऊपर से निकल जाती है, पर आप सूखे रह जाते हैं, तो कोई आपको भिगो जाती है । कोई आपके पैरों को धोकर लौट जाती है, कोई दूर से ही वापिस चली जाती है । उसी प्रकार, समुद्र की लहरों की तरह मन में भी परिवर्तन होता रहता है तथा काम, क्रोध, लोभ, उदासीनता, अभिमान, स्वार्थ आदि की लहरें उठती रहती हैं । जब ये भावनाएँ उग्र रूप में उदय होती हैं तो लहर बहुत ऊँची उठती है । भावनाओं के अनुपात से लहर की ऊँचाई या नीचाई नापी जा सकती है । किसी लहर को आप दूर से केवल उदय होते देखते हो, तो कोई आपको अपनी लपेट में ले लेती है । इस प्रकार

आप कभी सम्मानित, कभी अपमानित, कभी सुखी तो कभी दुःखी हो उठते हो। यह प्रभाव कभी आप पर अधिक पड़ता है तो कभी कम। इन लहरों के प्रभाव का सम्बन्ध मनुष्य के प्रारब्ध से है। इसीलिए जिस उदासीनता तथा उपेक्षा का तुम्हें सामना करना पड़ा वह अवश्य ही तुम्हारे प्रारब्ध में होगा। इसके लिए जीवों को दोष देना निरर्थक है, क्योंकि जीव स्वयं में कुछ भी नहीं, केवल मिथ्या अभिमान का पुतला है, जिसके अन्तर्मन में भी तरंगें उठती तथा प्रेरित करती रहती हैं। तुम्हारे से संबंधित प्रत्येक कर्म, उस व्यक्ति से तुम्हारा प्रारब्ध ही कराता है।''

मैंने कहा, ''महाराज जी, जब कोई कारण न होते हुए भी, कोई अपमानजनक व्यवहार करता है तो क्रोध तो आता ही है।'' इस पर महाराजश्री ने कहा, ''कारण होता है पर वह तुम्हें दिखाई नहीं देता। कारण तुम्हारा प्रारब्ध है। वह मनुष्य तो केवल तुम्हारे प्रारब्ध का माध्यम बनकर, उसे उभार कर उसके अनुसार व्यवहार करके प्रारब्ध को क्षीण करने का उपक्रम कर रहा है। तुम्हें तो उसका आभारी होना चाहिए। यदि तुम उसे धीरजतापूर्वक सहन कर लोगे, तो प्रारब्ध का वह अंश क्षीण हो जाएगा और यदि क्रोध में उचित-अनुचित व्यवहार कर बैठोगे, तो और भी उग्र रूप में विकसित हो जाएगा। लोगों के इस उपेक्षा भाव को, अपने ही किए का खेल समझकर, प्रसन्नचित्त हो स्वीकार कर लो।''

मैंने कहा, ''क्या सायटिका का भी प्रारब्ध से कुछ संबंध हो सकता है?'' महाराजश्री ने कहा, ''हो भी सकता है और नहीं हो सकता। अनुचित खान-पान के कारण इस जन्म का प्रारब्ध भी हो सकता है तथा पूर्व जन्मों के संचित संस्कारों का भी। कुछ भी हो तुम्हें सायटिका अथवा किसी भी रोग को, मान-अपमान को या दुःख को, प्रसन्न-चित्त होकर ही सहन करना चाहिए। इससे तुम चित्त की चंचलता से भी बचे रहोगे तथा भविष्य के लिए संस्कार-संचय भी नहीं होगा।''

मैंने कहा, ''महाराज जी, ऐसा कहना तो बहुत सरल है, पर कर पाना बहुत ही कठिन। प्रारब्ध क्षय का कोई अन्य मार्ग नहीं ?'' इस पर महाराजश्री तनिक आवेश में आ गए बोले, ''तुम साधक होकर ऐसी बात करते हो ! सहन करने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं। कठिन अवश्य है पर असंभव नहीं। कौनसा महापुरुष प्रारब्ध को सहन किए बिना ऊपर उठा है ?''

मैंने फिर कहा, ''जाग्रत शक्ति की, क्या इसमें कुछ भूमिका नहीं ?'' बोले, ''है। वह तुम्हारी फल-प्राप्ति-गति को तीव्र कर देती है, परन्तु सहन तो तुम्हें ही करना होगा। ज्यों-ज्यों सहन करते जाओगे, सहनशीलता बढ़ती जायेगी। सहनशीलता-सत्त्वगुणी अवस्था है जो तम व रज का भक्षण करती जाती है। सहनशीलता प्रारब्ध क्षय का मार्ग है। सहनशीलता मानसिक शक्ति का उपाय है।''

आज गुरु महाराज भक्तों से घिरे बड़े प्रसन्न दिखाई दे रहे थे । कुछ सामाजिक, कुछ राजनैतिक, हलकी-फुलकी बातचीत चल रही थी कि विषय अध्यात्म की ओर मुड़ गया । भगवान से चालाकी नहीं चलती क्योंकि वे तो जीव के अन्दर प्रत्येक भाव एवं क्रिया के साक्षी हैं । फिर उनसे झूठ कैसे बोला जा सकता है, धोखा कैसे दिया जा सकता है, चालाकी किस प्रकार संभव है। इस पर महाराजश्री ने अपने पूर्व आश्रम की एक घटना सुनाई जो कि काफी रोचक एवं शिक्षाप्रद है ।

बात उन दिनों की है जब बच्चे अभी बहुत छोटे थे । बड़ा लड़का कोई आठ एक साल का होगा । नई दिल्ली में हनुमानजी का प्रसिद्ध मन्दिर है । हम भी दर्शनार्थ कई बार वहाँ जाया करते थे । एक बार मंगलवार को सपरिवार हम वहाँ गए । साथ में हनुमान जी के भोग के लिए लड्डू ले गए । वहाँ का पुजारी जब भोग लगाता था तो थोड़ा सा भाग प्रसाद रूप में लौटा देता था तथा अधिकांश भाग अपने पास रख लेता था । पुजारी भी तो संसारी जीव ही था। लोभ-मोह से कहाँ अछूता था ? हमने सोचा कि लड्डुओं का आधा भाग पहले ही अलग कर लिया जाय तथा आधे का भोग लगाया जाय । इस प्रकार हमारे खाने के लिए पर्याप्त लड्डू मिल सकेंगे । जब मनुष्य चालाकी पर उतर आता है, तो भगवान को भी नहीं छोड़ता । कितना नीचे उतर आता है । मन्दिर में दर्शन किए, लड्डू चढ़ाए, जो प्रसाद मिला समेटा तथा प्रसन्नतापूर्वक वापिस चले। अब हमारे पास लड्डुओं की कमी नहीं थी, आधे पहले ही पास जो थे। सड़क पर आकर एक टाँगा लिया । अभी कुछ ही दूर गया होगा कि घोड़ा बिदक गया, टाँगा उलट गया, सारे लड्डू बिखर कर सड़क पर भागने, लुढ़कने लगे । देखा जाए तो बात सामान्य सी है, किन्तु समझने-समझाने के लिए इसमें बहुत कुछ है ।

किसी ने प्रश्न किया, "चालाकी का व्यवहार भगवान से नहीं करना चाहिए, क्या जगत् में चल जाएगा ?" महाराजश्री ने कहा, "करना तो जगत् में भी नहीं चाहिए, क्योंकि सभी जीवों में ईश्वर ही तो विद्यमान है । वह सब जानता-देखता है। आपकी चालाकी पर हँसता है तथा आपके अन्दर बैठा उस चालाकी को नोट कर लेता है । यह ईश्वर का धर्मराज स्वरूप है ।"

मैं बैठा यह सारी चर्चा सुन रहा था । बीते दिनों की भूली-बिसरी घटनाएँ, चलचित्र की भाँति आँखों के सामने से होकर निकलती जा रही थीं । मुझे याद आ रहा था कि कब-कब भगवान को मैंने धोखा देने का प्रयत्न किया था । आज यहाँ आश्रम में भी कहाँ बाज़ आता हूँ । भगवान के भोग के साथ प्रायः खिलवाड़ कर जाता हूँ । पहले तो मैं प्रसन्न हुआ करता था, किन्तु अब पश्चाताप हो रहा था । जब पुजारी जी भगवान के लिए नैवेद्य लेने आते थे तो

अच्छी-अच्छी मिठाइयों के डब्बे पहले ही अपने लिए एक ओर रख लेता था। बाकी बचे में से नैवेद्य देता था । मुझे अपनी इस करनी पर मन ही मन ग्लानि होने लगी । ये क्या भक्त के लक्षण हैं ? जब बढ़िया खाने के लोभ में, बढ़िया पदार्थों को अलग करते हुए, भगवान मुझे देखते होंगे तो क्या सोचते होंगे । ऐसे समय मुँह का स्वाद ही याद आता है, गुरु महाराज की याद नहीं आती । मैं मन ही मन छटपटाने लगा । मुझे अपना कद सबसे छोटा दिखाई देने लगा । संभव है दूसरे लोग भी ऐसी हरकतें करते हों, किन्तु इससे तुम्हें क्या ? लोगों के कुछ करने या नहीं करने से तुम्हारी उन्नति या अवनति नहीं होती । अपना किया ही फलीभूत होता है । मेरा मन कितना संकुचित है । भगवान को धोखा देने से भी बाज़ नहीं आया ।

केवल अपने मन में पश्चाताप कर लेने से ही काम नहीं चलेगा । महाराजश्री के पास जाकर अपनी भूल स्वीकार करना होगी तथा वह भी लोगों के समक्ष । अपनी गलती नहीं दोहराने का यही मार्ग मुझे समझ आया । सायंकाल जब कुछ लोग महाराजश्री के पास बैठे थे, मैंने कहा, "महाराज जी प्रातः काल जो बात हो रही थी, तो यह गलती तो मेरे से भी कई बार हो जाती है । पुजारी जी मन्दिर से भोग के लिए आते हैं तो अच्छे-अच्छे पदार्थ पहले एक ओर रखकर, बाकी बचे हुए में से भोग के लिए देता हूँ ।" महाराजश्री ने कहा, "यही तो कलियुग का प्रभाव है । वैसे तो प्रत्येक युग में अच्छे भी होते हैं, बुरे भी, किन्तु कलियुग में बुरों का अनुपात बहुत बढ़ जाता है । भले लोग भी प्रायः अनुचित कार्य कर बैठते हैं । राग-द्वेष, क्रोध, अभिमान चरम सीमा तक पहुँच जाता है । मन की उदारता क्षीण हो जाती है । अध्यात्म केवल बातों तक सीमित रह जाता है । हम भी अध्यात्म में रुचि रखते थे, पूजा-पाठ भी करते थे, किन्तु जहाँ लड्डुओं का प्रश्न आया, वहाँ हनुमानजी से भी धोखा कर बैठे । कोई महात्मा या भक्त ही क्यों न हो, युग प्रवाह में सबको बहना पड़ता है । जो साधन-भजन करते रहते हैं, उनका सिर जल स्तर से ऊपर उठा रहता है, किन्तु प्रवाहित सभी को होना पड़ता है ।

"तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो । अपना ध्यान, सेवा-साधन में लगाए रखो । बीच-बीच में मन तो उपद्रव करेगा ही, किन्तु भगवान सब सम्भालते हैं, रक्षा करते हैं । विश्वामित्र जैसे महातपस्वी भी माया के प्रभाव से अपने आपको नहीं बचा पाए । यद्यपि वह सतयुग था, फिर भी माया हर युग में बड़ी बलवान होती है । तुम भाग्यशाली हो कि तुम्हें अन्तर्शक्ति की क्रियाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त है । उन लोगों का अनुमान लगाओ जो केवल भावना तथा कल्पना के आधार पर ही चल रहे हैं । अपने मन को अधिकाधिक उदार बनाने का प्रयत्न करते रहो । उसके लिए भगवान से प्रार्थना करो । वह बड़े

दयालु हैं, एक दिन अवश्य सुनेंगे । हमारा आशीर्वाद साथ है ही । बस सेवा, कर्त्तव्य, साधन, सहनशीलता, नम्रता तथा आडम्बरहीनता को हाथ से जाने न दो।

"लोगों से मत डरो, वह तो बातें करते ही हैं, बातें करना उनका काम है। जो चढ़ाई चढ़ रहा है, वही गिरेगा, बार-बार गिरेगा । जो नीचे खड़े देखते हैं वे केवल बातें करते हैं । ईमानदारी से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहो ।"

आज गुरु पूर्णिमा का पावन दिवस है, मेरे जीवन की प्रथम गुरुपूर्णिमा । इस दिन लोग आश्रम में जाकर गुरुपूजन करते हैं तथा आशीर्वाद पाते हैं । आज तो बस इतनी ही गुरुपूर्णिमा मानी जाती है । कभी इसका कोई दूसरा रूप तथा उद्देश्य होगा तो होगा । आज कल यह सामाजिक उत्सव जैसा ही होकर रह गया है । लोग आपस में मिलते-जुलते हैं, मिष्ठान्न, पकवान खाते हैं, गाना-बजाना होता है, आपस में कुछ कहा-सुनी की घटनाएँ भी घटित होती हैं, कुछ निन्दा-चुगली भी चलती है तथा व्यावहारिक चर्चा भी होती है ।

जैसा कि मैंने पहले कहा कि यह मेरी प्रथम गुरु पूर्णिमा थी । मेरे लिए बड़े कौतूहल का अवसर था । एक ओर भोजन बन रहा था । लोग आ-जा रहे थे । कहीं लोग बैठे बतिया रहे थे तथा एक-दूसरे से ऊँची आवाज तथा लाल आँखें करके बोलते हुए भी देखे जा रहे थे । मेरे पास काम अत्यन्त अधिक था, पर मन में शान्ति थी । सायंकाल महाराजश्री का प्रवचन हुआ । महाराजश्री ने कहा, "गुरु पूर्णिमा के पूजन का फल दीक्षा के समान होना चाहिए ।" किन्तु मुझे तो कुछ भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ था । दीक्षा समय तो जाग्रति की अनुभूति हुई थी, क्रियाएँ हुईं थीं, रोना, हँसना और चिल्लाना हुआ था, पर इस समय तो कुछ भी नहीं हुआ ! क्या मेरा पूजन निरर्थक रहा ? क्या मुझे आशीर्वाद प्राप्त नहीं हुआ ? मैं सोच में पड़ गया । दूसरे लोगों को संभव है कुछ अनुभूति हुई हो । तो क्या मैं ही खाली रह गया ?

महाराजश्री से बात करने का समय तो प्रातः काल घूमते हुए मिलता था और वह समय उपयुक्त भी था । मैंने मन की जिज्ञासा व्यक्त की, तो महाराजश्री एकदम से हँस पड़े । कहा, "तुमने सारी बात या तो सुनी नहीं, या समझे नहीं। आगे पीछे की बात जिसको Sequence या पूर्वापर कहा जाता है, को यदि छोड़ दिया जाए तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है ।

पहली बात मैंने यह कही कि गुरु पूर्णिमा के पूजन का फल दीक्षा के समान होना चाहिए । यह नहीं कहा कि सदैव ऐसा ही होता है । इतने लोग पूजन के लिए आए, क्या ये नित्यप्रति साधन करते हैं ? क्या व्यवहार शुद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं? क्या सब का भाव शुद्ध है ? तो फिर वैसा फल भी कहाँ

प्राप्त होगा ? दीक्षा में भी सभी को एक समान विकास कहाँ प्राप्त होता है ? यह चित्त के भाव, संस्कार तथा गुणों की स्थिति पर आधारित है । किसी के विकास में एक क्षण का समय भी नहीं लगता तो किसी को लम्बे समय तक प्रतीक्षा करना पड़ती है । यह बात गुरु पूर्णिमा के पूजन की भी है । साधकों को पूर्ण श्रद्धा, भाव एवं समर्पण के साथ पूजन के लिए आना चाहिए, तभी उन्हें वैसे फल की प्राप्ति होगी ।

''तुम्हें आज यदि कुछ अनुभूति नहीं हुई, तो उसका कारण संभवतया यह है कि तुम्हारा मन किसी प्रभाव को ग्रहण करने की स्थिति में नहीं था । तुम्हारे पास काम काफी होने से, तुम्हारा ध्यान काम की ओर ही रहा है । तुमने व्यस्तता में से किसी तरह समय निकालकर भागते हुए आकर पूजन किया । पूजन करते समय भी तुम्हारा ध्यान पूजा में न होकर, काम की ओर ही था । देनेवाला तो देता है लेकिन लेनेवाला ले ही नहीं तो उसे कैसे कुछ मिल सकता है ? इसी तरह देनेवाला दे ही नहीं, या देने में असमर्थ हो, तो भी कुछ प्राप्त नहीं हो सकता । मैंने गुरु पूर्णिमा पर पूजन की जो बात कही थी, वह शक्तिपात के संदर्भ में कही थी । घबराने की कोई बात नहीं, तुम तो मेरे पास ही हो ।''

मैंने महाराजश्री का प्रवचन अत्यन्त व्यस्त क्षणों में ही सुना था, पूरा सुन भी नहीं पाया था । फिर पूर्वापर की संगति बिठाने तथा प्रवचन के भाव को समझ पाने का प्रश्न ही नहीं था, पर महाराजश्री के स्पष्टीकरण से संतोष हो गया ।

महाराजश्री छोटी-छोटी बातों के माध्यम से अध्यात्म के गूढ़तम विषयों की व्याख्या करने में अत्यन्त दक्ष थे । एक बार मैं दूध को सँभालना भूल गया, रात को जाली में नहीं रखा । प्रातः काल बाहर का दरवाजा खुला था, आकर देखा तो बिल्ली दूध पी रही थी । बड़ा क्रोध आया । बिल्ली पर एक लाठी दे मारी । लाठी की आवाज सुनकर महाराजश्री अपने कक्ष से बाहर निकल आए। मैं लाठी को फिर से उठाकर, हाथ में लिए खड़ा था । बिल्ली भाग चुकी थी। महाराजश्री को बात समझते देर न लगी । बोले, ''दूध को सँभाल कर नहीं रखा इसीलिए बिल्ली पी गई । यदि जाली में दूध होता तो कैसे पी जाती ? बिल्ली को दूध मिलेगा तो वह तो पीएगी ही।''

उसी रात बराण्डे में महाराजश्री की कुर्सी अन्दर रखना भूल गया । कुर्सी पर कुशन (गादी) रखी थी । एक कुत्ता, नरम-नरम गादी पर रात को आकर सो गया । प्रातः काल दरवाजा खोला तो कुत्ते को कुर्सी पर सोते देखकर, क्रोध से भर गया । यह भी भूल गया कि अभी कल ही महाराजश्री ने बिल्ली को मारने पर डाँट पिलाई थी। पुनः लाठी उठा ली तथा सोते हुए कुत्ते पर दे मारी।

कुत्ता चाऊँ-चाऊँ करता भाग निकला । मैं यह भी भूल गया कि महाराजश्री पीछे ही खड़े हैं । महाराजश्री ने डाँट कर कहा, "गलती अपनी है और बेजबान जानवरों को मारते फिरते हो । यदि कुर्सी रात को अन्दर रखी होती तो कुत्ता कैसे आकर सो सकता था !" मैं अपराधी की तरह खड़ा था ।

थोड़ी देर पश्चात् महाराजश्री ने मुझे अपने कक्ष में बुलाया । बोले, "मनुष्य जगत् को, तथा जगत् के विषयों को कोसता रहता है, किन्तु अपने मन को नहीं सँभालता । जब दूध तथा कुर्सी की तरह, मन को नहीं सँभाला जाएगा तो कुत्ते तथा बिल्ली रूपी विषय तो आक्रमण करेंगे ही । जब मन दुर्बल तथा असावधान होता है तभी विषयों की आँधी उसे उड़ाकर ले जाती है । पटक-पटक कर, उसका हुलिया बिगाड़ देती है । मनुष्य फिर भी नहीं समझता तथा आँधी को ही भला-बुरा कहता रहता है । जैसे तुमने कल वाली घटना से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं की और आज कुत्ते पर लपक पड़े । दूध तथा गादी का बिगाड़ हुआ सो हुआ, सबसे बड़कर तो तुम क्रोधित हुए, वह बहुत बड़ी हानि है ।

"गीता का यह वाक्य मत भूलो कि काम, क्रोध तथा लोभ नरक के द्वार हैं । मुझे दूध या गादी की चिन्ता नहीं, तुम्हारे क्रोधित होने की है । क्रोधी मनुष्य न साधना कर पाता है, न जीवन की दौड़ में ही विजयी होता है ।" मैं मौन खड़ा सब सुनता रहा, फिर बोला, "महाराज जी, जब कोई ऐसी घटना घट जाती है, तभी क्रोध आता है ।" महाराजश्री ने कहा, "ऐसी घटना क्यों घटी, तुम्हारी असावधानी के कारण ही न ! जब मन असावधान होता है तभी विषयों का आक्रमण होता है । मन की सावधानी निरन्तर बनी रहनी चाहिए । उस समय तक जब तक कि चित्त की स्वाभाविक अवस्था उदय न हो जाए । निरन्तर मन पर दृष्टि रखो तभी साधन रूपी महासमर में विजयश्री प्राप्त कर पाओगे । तुम्हें जीवन में अभी बहुत कुछ करना है। बहुत लम्बी यात्रा है । सँभल कर चलोगे, तभी चल पाओगे ।"

मैंने कहा, "किन्तु मुझे ज्यादा क्रोध नहीं आता, कभी-कभी आता है ।" महाराजश्री बोले, "जो कभी-कभी आता है, वह अधिक भयंकर होता है । क्रोध आता है, चिन्तित होने के लिए इतना ही पर्याप्त है । मत भूलो कि क्रोध के उपद्रवों से इतिहास भरा पड़ा है । तपस्वी ज्ञानी भी क्रोध के वशीभूत होने पर आपा खो बैठते हैं ।" मैं शांत सुनता रहा, किन्तु कई प्रश्नचिह्न मेरे व्यक्तित्व के साथ जुड़ गए ।

घूमने जाते समय महाराजश्री बहुत अच्छी-अच्छी बातें करते थे । उस समय उनका भाव उत्कृष्ट होता था । एक तो प्रात: काल का समय, दूसरे साधन

करके उठे ही होते थे, तीसरे बीच में टोकने वाला अन्य कोई भी उपस्थित नहीं होता था। मैं भी सोच कर कोई विषय ले जाता था, नहीं तो क्या पता राजनीति, भवन निर्माण या कोई सामाजिक चर्चा ही न छिड़ जाय एक दिन मैंने पूछा, "महाराज जी, धर्म क्या है? गीता में कहीं कर्म को धर्म कहा है, कहीं यज्ञ को, कहीं कर्त्तव्य को। सामान्यत: तो हिन्दू-मुस्लिम आदि धर्म माने जाते हैं।" आपने कहा, "अरे भई, धर्म एक ही है, ईश्वर को प्राप्त करना, अर्थात् ईश्वर प्राप्त नहीं है, इस भ्रम का निवारण करना, अर्थात् धर्म के द्वारा धर्म में स्थित होना। बाकी सब शब्दों का आडम्बर है। कर्म को धर्म कहा, इस भाव को समझो। आसक्तियुक्त कर्म धर्म नहीं है। अनासक्त कर्म को ही धर्म कहा है, क्योंकि वही मन को निर्मल बनाकर, भ्रम दूर करने में कारण है। यज्ञ को धर्म कहा तो यह भी याद रखो कि यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ जप है। सकाम जप यज्ञ नहीं है। ईश्वर प्राप्त्यर्थ निष्काम यज्ञ ही धर्म है, क्योंकि वह भ्रम का नाशक है। कर्त्तव्य पालन को धर्म कहा, क्योंकि उसमें भी फल प्राप्ति को गौण कर दिया है। फल की इच्छारहित कर्त्तव्य-पालन ही धर्म है, क्योंकि वह वासना को क्षय कर, भ्रम नाशक है। यह बात सभी प्रकार की साधनाओं में है। ईश्वर प्राप्ति का लक्ष्य सभी मार्गों में एक समान है। जहाँ ईश्वर प्राप्ति का लक्ष्य नहीं हो, वह धर्म नहीं। ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्त का भक्ति करना, कर्मयोगी का अनासक्त कर्म करना, ज्ञानी का अन्तर से ज्ञान उदय करना, योगी का ध्यान साधन करना, धर्म है। गृहस्थ का वैराग्य जाग्रति के लिए शास्त्रानुकूल भोग करना, विरक्त का विषय त्याग तथा ब्रह्मचारी का विद्योपार्जन धर्म है। यह सभी ईश्वर की ओर ले जाने में सहायक हैं।

"जो तुमने हिन्दू-मुस्लिम आदि धर्मों की बात कही, वे धर्म ही नहीं मत हैं जो धर्म की ओर प्रवृत्त करने के उपाय सुझाते हैं। कोई कर्म प्रधान, कोई जप प्रधान, कोई भावना प्रधान, कोई उपासना प्रधान, कोई प्रार्थना प्रधान, तो कोई सेवा प्रधान है। हिन्दू मत की विशेषता यह है कि यह उपाय पर नहीं, अपितु चित्त स्थिति पर आधारित है। सभी जीवों की चित्त-स्थिति एक समान नहीं है। संस्कार, भावना, श्रद्धा, वृत्ति, सबकी भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए एक ही मत या साधन सभी के लिए अनुकूल नहीं। हिन्दू मत सभी उपायों को मान्य करता है तथा जो जिसके अनुकूल हो, करने का अधिकार देता है।"

मैंने प्रश्न किया, "जब सभी मत एक ही ईश्वर की ओर ले जाते हैं तो यह परस्पर वैमनस्य तथा वाद-विवाद क्यों?" उत्तर मिला, "आसक्ति, मनुष्य का स्वभाव बन चुका हैं, चाहे वह अत्यन्त अस्वाभाविक ही हो, किन्तु मनुष्य इसके समक्ष विवश है। वह अपनी साधन-प्रणाली तथा मत के प्रति भी आसक्त हो जाता है तथा अपनी प्रणाली तथा विचारधारा को ही सर्वोपरि

समझता है । वह उसे बलात् दूसरों पर थोपना चाहता है । यदि कोई उदार-मन हो, धर्म के वास्तविक मर्म को समझ ले तो सारा झगड़ा ही समाप्त हो जाए। धर्म का कार्य है मन को निर्मल करते हुए, भ्रम का नाश करना तथा परमात्मा के नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्, चित् आनन्द गुणों का साक्षात् अनुभव कर, धर्म में स्थापित कर देना । धर्म से ही धर्म में स्थापित हो पाना संभव है ।''

मेरा अगला प्रश्न था, ''शक्तिपात् का धर्म में क्या स्थान है ?'' महाराजश्री ने कहा, ''शक्तिपात् अहंकार-रहित प्रत्यक्ष साधन प्रणाली है । यदि सच कहा जाय तो यह कोई स्वतंत्र साधन-प्रणाली भी नहीं है । यह सभी प्रणालियों को अग्रसर करने की एक विद्या है। जिस प्रकार भक्त का भक्ति करना तथा ज्ञानी का विचार करना धर्म है, उसी प्रकार शक्तिपात् में समर्पण धर्म है । स्वाभाविक रूप से आन्तरिक उन्नति करते हुए, निज-स्वरूप-स्थापना का एक उपाय है । बाकी सभी साधनाओं में प्रयत्न तथा कर्त्तत्वाभिमान रहता है, परन्तु यह स्वयंसिद्ध तथा द्रष्टाभाव से युक्त है । वास्तव में यही एक धर्म है जो सभी अहंकारयुक्त धर्मों की अपेक्षा अधिक सहज है ।''

मैंने पूछा कि कुछ लोगों का मानना है कि शक्तिपात तांत्रिक है, इसलिए वे इससे डरते हैं । इस पर महाराजश्री ने कहा, ''सर्वप्रथम तो ऐसे लोगों की तंत्र के प्रति गलत धारणा है । वे पशवाचारी तंत्र को ही तंत्र समझते हैं, किन्तु तंत्र का वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक है । एक समय तंत्र का पशवाचार पक्ष बहुत प्रबल हो गया था; उसका प्रचार-प्रसार भी पर्याप्त हुआ, इसीलिए कई महात्माओं ने तांत्रिकों की निन्दा भी की । उनकी वाणियाँ पढ़-पढ़कर आज भी कई लोग तंत्र विरोधी धारणा पाले हुए हैं । शक्तिपात् तांत्रिक विद्या तो है ही, किन्तु यह केवल तांत्रिक ही नहीं है, वैदिक, पौराणिक, यौगिक तथा भक्ति विषयक भी है । सभी सिद्धांतों के अनुसार, इसकी व्याख्या की जा सकती है। जिस साधक की जैसी रुचि हो, वह वहीं शक्तिपात् के सिद्धान्तों को खोज सकता है ।

''तंत्र का वैदिक या पौराणिक आदि ग्रन्थों से कोई विरोध नहीं है । उन सिद्धान्तों की एक अलग प्रकार से व्याख्या की गई है । तंत्रों को सभी ग्रन्थों का पूरक कहा जा सकता है । तांत्रिक साधना भी चाहे बाह्य हो अथवा आन्तरिक, वैराग्य, मनोनिग्रह, इन्द्रिय निग्रह की अपेक्षा रखती है । तांत्रिक साधना भी वृत्ति की बहिर्मुखता हटाकर, अन्तर्मुख करती है । मुख्य बात अन्तर्मुख जाग्रति है फिर सिद्धान्त, मार्ग, मत या भाव-विचार कुछ भी हो ।''

कुछ लोग महाराजश्री के सामने बैठे थे । मंदिर के बाजू में खुले में ही यह सभा जमी थी । साधन संबंधी चर्चा चल रही थी । महाराजश्री कह रहे थे, ''क्रियाओं से डरने की कोई बात नहीं । यह अनुभव भाग्यशाली को ही होता

है । यदि कोई क्रियाओं से डरता है तो उसकी क्रिया रूक जाती है । क्रिया में यदि अन्दर से भय उदय हो, तो यह भी एक क्रिया ही है जो कि भय के संस्कार उदय होने पर घटित होती है । भय की क्रिया को भी उसी प्रकार द्रष्टा भाव से अनुभव करना चाहिए जैसे अन्य क्रियाओं को करते हैं ।''

एक सज्जन ने प्रश्न किया, ''यह रोने हँसने की क्रिया का क्या अर्थ है? कुछ लोग रोने को गुरु द्वारा दुःख दिया जाना (Torture) मानते हैं । हँसने की क्रिया को पागलपन कहते हैं । मुझे जब रोने की क्रिया होती है तो शर्म के मारे रोक लेता हूँ।''

महाराजश्री के चेहरे पर मुस्कराहट खेल गई । बोले, ''साधन में शर्म ! फिर तुम साधन नहीं कर सकते । जिस प्रकार भयभीत होने पर क्रिया रुक जाती है । उसी प्रकार शर्म करने पर भी । रोना हृदय के भाव को परिलक्षित करता है । यह भाव प्रभु-प्रेम या विरह का हो सकता है या विषयों से छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाने की वेदना का या अपने द्वारा किया गया कोई पाप कर्म याद आ जाने पर पश्चाताप के कारण हो सकता है । भाव यह है कि किसी भी प्रकार पुराने संस्कारों के उदय होने पर, साधक का हृदय चीत्कार कर उठता है तथा उसके नेत्रों से अश्रुपात् होने लगता है । वह दुःखी मन से जोर-जोर से रो भी सकता है । यह संभव है कि साधक को उस रोने का कारण समझ में नहीं आए, फिर भी रोता है । गुरु द्वारा दुःख देने वाली बात वही कर सकता है जो इस साधन-क्रम से अनभिज्ञ हो ।

''इसी प्रकार हँसना हृदय के हर्ष को परिलक्षित करता है । जब आनन्द की अनुभूति हो, प्रभु के प्रति प्रेम उमड़-पड़े, हँसने के संस्कार उदय हों, हँसने की कोई बात याद आ जाए तथा हृदय गदगद हो जाए, या कोई कारण समझ में नहीं आने पर भी हँसना रुकने का नाम न ले, तो यह सब हृदय के उल्लास का प्रकटीकरण है । हँसना अकेले भी हो सकता है तथा सामूहिक साधन में बैठने पर, सामूहिक क्रिया के रूप में भी । यदि सामूहिक हँसी एक बार आरम्भ हो जाए तो लोग पेट पकड़-पकड़ कर, हँसते चले जाते हैं । कारण कोई भी नहीं जानता । यही हास्य रस की क्रिया है।

''एक बात ध्यान में रखो कि सभी क्रियाएँ संस्कार-क्षय के लिए ही हैं। जिस क्रिया से संस्कार संचय होता है, उसी क्रिया से क्षय भी होता है । संचय-समय कर्त्तत्वाभिमानयुक्त कर्म होता है तो क्षय-समय अहंकाररहित, द्रष्टाभावयुक्त शक्ति की क्रिया । कर्म प्रायः जगत् में होता है तो क्रिया अन्तर में । संचय-समय अहम् कर्म के साथ मिल जाता है, तो क्रिया में अर्थात् क्षय-समय क्रिया से अहम् का पृथक्कत्त्व बना रहता है । घर गंदा होते समय भी कचरा फैलता है तथा सफाई करते समय भी कचरा फैलता है । संचय के पश्चात् घर मलिन

हो जाता है, सफाई के पश्चात् कचरा कहीं दिखाई नहीं देता । यही क्रिया-शक्ति की कृपा है । इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सब साधनाएँ हैं । इसी के लिए विरक्त तथा तपस्वी वनों में भटकते हैं । गुरु-कृपा से आप को यह सुअवसर घर बैठे प्राप्त हुआ है ।''

महाराजश्री बाहर वराण्डे में कुर्सी पर बैठे थे । कोई चार बजे बाद दोपहर का समय था । एक युवक ने आकर प्रणाम किया । पूछा, ''कौन हो भाई ?'' उसने उत्तर दिया, ''मैं देवास का ही रहने वाला हूँ, नौकरी करता हूँ तथा आपकी सेवा में दीक्षा की प्रार्थना लेकर आया हूँ ।'' पूछा, ''तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं ?'' उत्तर मिला, ''माता, एक भाई तथा एक बहन हैं । पिताजी का स्वर्गवास हो चुका है ।'' तब महाराजश्री ने पूछा, ''क्या आपने दीक्षा के लिए अपनी माता की अनुमति ले ली है?'' युवक ने कहा, ''माता की अनुमति की क्या आवश्यकता है?'' तब महाराजश्री बोले, ''आप को आवश्यकता नहीं हो सकती, पर मुझे है । कल को कोई बात हो जाय इसलिए पहले से सावधानी बरतना अच्छा है ।'' युवक थोड़ी देर चुप रहा फिर बोला, ''मेरी माता तो मुझ से बोलती ही नहीं । फिर मैं अनुमति किस से लूँ !'' महाराजश्री इस पर आश्चर्यचकित हुए, ''बोलती ही नहीं? ऐसा भला क्यों ?'' तो वह युवक माता की निन्दा करने लग गया, ''मेरी माता बड़ी कर्कशा है, जानती कुछ है नहीं, ऐसे ही बोलती रहती है । सदा मेरे भाई का ही पक्ष लेती है । मैं कहाँ तक सहन करूँ?'' इतने से ही महाराजश्री सारी बात समझ गए । युवक से इस प्रकार बोले, ''मैं आपको दीक्षा नहीं दे सकता । आप यहाँ से चले जाएँ, यही अच्छा है । मेरे पास कभी आएँ भी नहीं । यदि आएँ भी तो अपनी माता को साथ ले कर ही । उनकी सिफारिश पर ही दीक्षा पर विचार कर सकता हूँ ।'' युवक चला गया ।

उसके जाने के बाद, महाराजश्री ने कहा, ''जो व्यक्ति आज अपनी माता की निन्दा करता है, कल वह अपने गुरु की भी करेगा । प्रथम गुरु तो माता ही है । कोई सच्चा गुरु अपने शिष्य को माता-पिता से विमुख नहीं कर सकता तथा न ही कोई समझदार माता-पिता उसे गुरु से दूर करने का यत्न कर सकते हैं । माता जो नौ मास तक अपने रक्त से, अपनी संतान का पोषण करती है, अपना दूध पिला कर उसे बड़ा करती है, कैसी भी हो, सदा पूजनीय है । संतान उसके ऋण से कभी भी मुक्त नहीं हो सकती । पिता जो अपनी मेहनत की कमाई से, स्वयं कष्ट सहकर भी, अपनी संतान के पालन की व्यवस्था करता है, उसे अपने पाँवों पर खड़ा करता है, सदा उसका भला चाहता है, उस उपकार को कैसे भुलाया जा सकता है ? गुरु जो सदैव ही शिष्य का कल्याण चाहता है, उसे परमार्थ का मार्ग दिखाता है, उसकी सौ भूलें क्षमा करता है, उसे

पुत्रवत् स्नेह प्रदान करता है, उस गुरु से यदि शिष्य द्रोह करता है, तो वह पाप का ही भागी होता है । जिसे अपने माता-पिता पर श्रद्धा नहीं, उसने गुरु पर अश्रद्धा का वहीं सूत्रपात् कर दिया ।''

भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति में ''मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव'' कहा गया है । कितना ऊँचा आदर्श है, पर वर्तमान युग में कौन सुनता है, किन्तु हम तो भई, पुरातन संस्कारों को मानने वाले हैं, हम उस युवक को दीक्षा कैसे दे सकते हैं !

''अध्यात्म की साधना घर से ही आरंभ होती है । घर में भी, बच्चे का सर्वप्रथम माता से ही सामना होता है । वहाँ से उसे दुलार भी मिलता है और डाँट भी । किन्तु इस दुलार तथा डाँट में ममता होती है, बालक के भविष्य के सुन्दर सपने होते हैं । दूसरा सामना पिता से होता है जिसका खून बालक की रगों में दौड़ता है। अपना खून है तो अपनत्त्व होगा ही । जिस प्रकार गुरु शिष्य का कल्याण चाहता है, भगवान जीव का मंगल चाहता है, उसी प्रकार माता-पिता भी अपनी संतान के लिए मंगल तथा भलाई ही चाहते हैं । इसीलिए माता-पिता में भगवान को देखने का आदेश दिया जाता है । मैं उस युवक की मन:स्थिति समझ गया हूँ । उसे अपने भाई से द्वेष है । माता को सभी संतानें एक समान होती हैं, किन्तु युवक को उस में पक्षपात दिखाई देता है । यह पक्षपात माता के व्यवहार में नहीं, उसके अपने चित्त में है । ऐसा द्वेषयुक्त चित्त और दीक्षा की जिज्ञासा ?''

मैंने अनुकूल अवसर पाकर, महाराजश्री से निवेदन किया, ''कल जब सायंकालीन प्रवचन में श्री शंकराचार्य की पुस्तक विवेक चूड़ामणि का उद्धरण देकर तितिक्षा पर बोल रहे थे, उस समय स्मृति वृत्ति ने मेरे मन को कुछ ऐसा तरंगित किया कि मैं पूर्व अनुभूत विषयों में खोकर रह गया । जिससे आपके प्रवचन के तितिक्षा संबंधी अंश को ठीक तरह से सुन-समझ न सका । भगवान शंकराचार्य ने कहा, ''सहनं सर्व दुःखानां अप्रतिकार पूर्वकम्'' क्या इसका तात्पर्य, समझाने की कृपा करेंगे ?''

महाराजश्री ने कहा, ''देखो, तितिक्षा साधन के प्राण हैं । इन्द्रिय निग्रह तथा मनोनिग्रह तितिक्षा से (सहनशीलता से) ही संबंधित हैं । संस्कारक्षय तथा वासनाक्षय का भी तितिक्षा से घनिष्ट संबंध है । शारीरिक तितिक्षा तो महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु इससे भी कहीं अधिक कठिन तथा महत्त्व मानसिक तितिक्षा का है जिसमें बिना कोई प्रतिकार किए क्लेश, संताप, अपमान, अपयश आदि को सहन करना पड़ता है । इसमें बड़े-बड़े तपस्वी भी उद्विग्न हो जाते हैं तथा तितिक्षा से च्युत हो जाते हैं ।

"शारीरिक तितिक्षा इन्द्रियनिग्रह के लिए है, किन्तु इसे भी मनोनिग्रह से एकदम अलग नहीं किया जा सकता। इसके लिए सशक्त मानसिक संकल्प की आवश्यकता है, जिसके अभाव में शारीरिक तितिक्षा चरमरा जाती है। जब सुख-दुःख, भोग-उपभोग समक्ष आते हैं तो जगत्-विषय इन्द्रियों पर आक्रमण करते हैं। जब प्राकृतिक आपदाएँ दुःख देती हैं तो बिना विचलित हुए, बिना विषयों पर आकर्षणों के प्रति समर्पित हुए उन्हें सहन करना, उनका प्रतिकार भी नहीं करना, शारीरिक तितिक्षा है।

"मानसिक तितिक्षा के लिए और भी अधिक दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है। यदि कभी साधक का सम्मान होता है तो अभिमान से बचना, कभी अपमान होता है तो विक्षेप से बचना, मित्रों से राग न करना, अपने आपको शत्रु मानने वालों से द्वेष न करना, यदि ऐसे लोग सामने आ जाएँ तो उन्हें आदर तथा प्रेम प्रदान करना। इन सबके लिए बहुत कुछ सहन करना पड़ता है, मन को बहुत मारना पड़ता है। शत्रु उदासीनता दर्शा रहा है फिर भी आप प्रेम कर रहे हैं। आपका अपमान कर रहे हैं, आप बिना कोई उत्तर या सफाई दिए सहन कर रहे हैं। यह कोई सरल कार्य नहीं है। तितिक्षु दूसरों के हित के लिए स्वयं कष्ट सहन करता है जिससे अपना मन ही निर्मल होता है। तितिक्षु इस बात को भली प्रकार समझता है कि मान-अपमान, यश-अपयश, सुख-दुःख सब अपने ही कर्मों का फल है। जगत् न यश दे सकता है न अपयश। जगत् केवल आधार है जिस पर अपना ही प्रारब्ध प्रकाशित होता है। जीव अभिमान के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता। सब कुछ केवल उसके माध्यम से कराया जाता है। जीव के द्वारा घटित होने वाली प्रत्येक घटना क्रिया शक्ति की क्रिया होती है जिसे जीव, अभिमान के वशीभूत कर्म बना देता है। दूसरों को अपने मान-अपमान का कारण मान लेता है। अतः उसे सहन कर के भोग लेना तथा इस प्रकार उसे समाप्त कर देना ही एकमात्र उपाय है।"

मैंने प्रश्न किया कि संस्कारों को क्रिया-शक्ति क्रियाओं के माध्यम से समाप्त कर देती है फिर तितिक्षा की क्या आवश्यकता है? इस पर महाराजश्री ने कहा, "क्रिया शक्ति संचित संस्कारों को क्रिया में परिणत करती है। प्रारब्ध को भोग कर ही समाप्त किया जा सकता है। यदि सहनशीलता सहित प्रारब्ध को नहीं भोगा जाए तो वह और भी संस्कार-संचय करता जाता है। तब प्रारब्ध कभी भी समाप्त होने में नहीं आता।

"तितिक्षा ऐसा अद्वितीय शब्द है जिसका साधन-क्षेत्र में बहुत दूर तक विस्तार है। वह जीवत्त्व से ऊपर उठाकर, आत्म-तत्त्व में स्थापित करता है। बाहर व्यवहार शुद्धि का कारण है तो अन्तर में क्रिया-साधन में द्रष्टाभाव का

प्रदाता। किन्तु इसका पालन अत्यन्त दुष्कर है। लोग कठिन साधन तो कर सकते हैं किन्तु तितिक्षा नहीं। तितिक्षा के बिना साधन में उन्नति नहीं हो पाती।

''वैसे तो तितिक्षा के कई स्तर है परन्तु मुख्यत: इसे यत्नसाध्य तथा स्वाभाविक, दो स्तरों पर बाँटा जा सकता है। यत्न साध्य में साधक को, मन को संयत करके रखना पड़ता है। मन बार-बार सहन करने से इनकार करता है, विचलित होता छटपटाता है किन्तु साधक मन को दबाकर रखता है। स्वाभाविक तितिक्षा में, सहनशीलता उस का स्वभाव बन जाता है। विपरीत परिस्थितियों को, सरलतापूर्वक सहन लेता है। तीसरा स्तर, इन दोनों से ऊपर हैं, जो कि वास्तव में तितिक्षा है ही नहीं, क्योकिं वहाँ पहुँचकर, तितिक्षा समाप्त हो जाती है। तब आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं।

''तितिक्षा दो प्रकार से सिद्ध की जा सकती है, अपनी शक्ति से तथा प्रभु की शक्ति से। योगियों- ज्ञानियों को अपनी शक्ति पर भरोसा होता है तो भक्त प्रभु के आश्रित होता है। एक यत्न-साध्य है तो दूसरी समर्पण- साध्य। दोनों में केवल भाव का ही अन्तर हैं।''

मैंने पूछा कि, ''क्या कारण है कि भक्तों- तितिक्षुओं को इतने कष्ट झेलने पड़ते है। सांसारिक दृष्टिकोण वाले लोग तो आनन्द मनाते हैं किन्तु जिसने सहनशीलता को अपना लिया हो, उसे खून के घूँट पीकर रह जाना पड़ता है।'' महाराजश्री ने कहा, ''वह खून के घूँट पीकर नहीं रहता। खून के घूँट तो संसारी पीता है जिसके कई प्रकार के भय पीछे लगे रहते हैं। भक्त न प्रतिकार ही करता है, न उसे कोई चिन्ता ही होती है। वह सदैव ही आनन्द में रहता है। दूसरे चाहे उसे दुखी समझते रहें, पर उसका मन सदैव सुखी होता है। दुख में भी सुखी रहना, कोई भक्त से सीखे।''

मैंने कहा, ''महाराज जी, किन्तु यह बहुत कठिन है। जगत् दुख दिए जा रहा हो, आक्रमण पर आक्रमण किए जा रहा हो, किन्तु शान्त- मन से सहन करते जाना, मुँह से हाय तक न निकालना, फिर भी सबसे प्रेम करना, मन को प्रसन्न रखना। सामान्य व्यक्ति तो यह नहीं कर सकता हैं।''

महाराजश्री बोले 'मैंने कब कहा यह सरल कार्य है। यह तो बड़ा ही कठिन है। जगत् में ऐसा कर पाना, सबसे कठिन है। कोई वीर योद्धा ही यह कर सकता है। वह कई बार गिरता है, फिर खड़ा हो जाता है। सँभलता है, आगे बढ़ता है।''

आज जब प्रात: भ्रमण के लिए महाराजश्री निकले तो बाहर से आए हुए दो सज़्जन साथ हो लिए। आज मेरा मौन रहकर, श्रवण करने का दिन था।

वैसे भी मैं कम बोला करता और सुना ज्यादा करता था । महाराजश्री कहा करते थे, कि जो जितना कम बोलता है, उतना ज्यादा प्राप्त करता है । अधिक बोलने वाले की ग्राह्य शक्ति बहुत कम होती है ।

आए हुए सज्जन ने महाराजश्री से अपनी बात इस प्रकार कही, "मुझ से पूजा-पाठ नहीं हो पाता । मैं नित्य-प्रति प्रातः काल भगवान की सेवा किया करता था । उन्हें स्नान कराता, शृंगार करता, पूजन करता एवं तत्पश्चात् उसी स्थल पर बैठकर गीता-पाठ किया करता था, किन्तु अब करने बैठता हूँ तो बैठा ही रह जाता हूँ । एक प्रकार से ध्यान में चला जाता हूँ । बैठने में ही आनन्द आता है । सोचता हूँ यह मुझे क्या हो गया है ? क्या भगवान मुझसे नाराज हो गए हैं जो अब सेवा ग्रहण नहीं करते ? गीता-पाठ करने बैठता हूँ तो पुस्तक सामने खुली हुई वैसे ही रखी रहती है । गीता के जो श्लोक मुझे मुखाग्र हैं, वह भी भूल जाता हूँ । जप की भी वैसी ही स्थिति है, मंत्र भूल जाता हूँ । यदि याद करने का प्रयत्न भी करूँ तो भी याद नहीं आते, जैसे मन की सभी क्रियाएँ ठहर गई हों, न विचार, न भाव, न ही कोई संकल्प । जैसे जीते जी ही मर गया ।"

महाराजश्री बड़े गम्भीर होकर सब सुनते रहे, फिर बोले "आप इस अवस्था से चिंतित हैं, यह बड़ी विचित्र बात है ! इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए तपस्वी तप करते हैं, ज्ञानी ज्ञान संचय करते हैं तथा भक्त भगवान के समक्ष रोते-गाते हैं । यह भावातीत अवस्था किसी विरले को ही मिलती है । यह अवस्था पूर्णरूपेण चित्त की निरुद्ध अवस्था तो नहीं, किन्तु बहुत कुछ उसके समीप है । इस अवस्था में मन संकल्प-विकल्प का त्याग कर देता है, हृदय में कोई भाव उदय नहीं होता, वासना मौन होकर रह जाती है, संस्कार एक ओर रखे रहते हैं तथा चित्त भावातीत अवस्था में, केवल चैतन्य को निहारा करता है । इसी अवस्था को नारदभक्तिसूत्र में आत्माराम कहा है । यही योग की सम्प्रज्ञात अवस्था है । इसके पश्चात् असम्प्रज्ञात अवस्था आती है ।

"आप भगवान का स्नान-शृंगार इन्द्रियों के द्वारा ही तो करते हो, जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर, सभी व्यापार त्याग देती हैं, तो भगवान की सेवा कैसे करेंगी । जब सभी चेष्टाएँ छोड़कर निश्चेष्ट हो जाएँगी तो जप किस मन से करोगे। जब वाणी मौन धारण कर लेगी तो पाठ कैसे कर सकते हो । जब तक इन्द्रियाँ तथा मन कार्यशील बने रहते हैं तभी तक आपका यत्न है । इस अवस्था में चैतन्य, जो कि इंद्रियों को गतिशीलता प्रदान करने पर, चेतन कहलाता है, इन्द्रियों के आधार पर अपनी क्रियाशीलता समेट लेता है, किन्तु फिर भी चित्त के अन्तर्तम में उसका स्पंदन बना रहता है, इसलिए चित्त पूरी तरह निरुद्ध तो नहीं होता किन्तु उसकी बहिर्मुखी क्रियाशीलता बन्द हो जाती है । यही संप्रज्ञात है ।"

उस सज्जन ने फिर कहा, "किन्तु महाराज जी, यदि हमारी बहिर्मुखी क्रियाशीलता ही बन्द हो गई, हमारा अहम् ही न रहा, तो जीवन किस काम का?" महाराजश्री ने कहा, "ऐसा आप इसलिए सोचते हो क्योंकि जीवन तथा अहम् के साथ आसक्ति हो गई है अन्यथा यदि विचार करो तो आपका वास्तविक जीवन तथा अहम् अब जाग गया है । अब तो जीवन में आनंद लेने का समय निकट आ गया । अँधेरी रात बीतने को है । जिस बन्द दरवाजे को कब से खटखटा रहे थे, अब खुलने को है ।

"अब तक आप एक ऐसे जगत् के प्रति आसक्त बने हुए थे जिसमें कोई सार ही नहीं, कोई स्थायित्व ही नहीं । अब आप एक-एक स्तर को पार करते हुए आगे बढ़ रहे हैं, जहाँ आनंद है, जो नित्य है, शाश्वत है, दुःख का लेश मात्र भी नहीं । जिसको आप जीवन समझ रहे हैं वह क्षण-मात्र का ही तो है । कब दीपक बुझ जाए, कुछ पता नहीं । यह एक छलावा है । हिलना-चलना सब होता है, पर अपनी शक्ति कुछ भी नहीं । यह जीवन तो हाथ से जाने वाला ही है फिर क्यों न उस जीवन में जाया जाए, जो सदा रहने वाला, आनंद से परिपूर्ण है ।"

उन सज्जन ने फिर कहा, "किन्तु महाराज जी, जो भी हो मेरा मन तो भगवान की सेवा, जप ही करना चाहता है । मुझे क्या लेना है चैतन्य की अनुभूति से ? मैं तो भगवद्भजन में ही आनन्द मानता हूँ ।" महाराजश्री ने कहा, "जब भोजन करो तो क्षुधा निवृत्ति तो होगी ही । जब भजन करोगे तो ये स्थितियाँ उसका फल है, यह तो मिलेगा ही । तुम चाहो या न चाहो ।"

यह बातें करते-करते आश्रम तक आ पहुँचे थे, अतः अब बातचीत बंद हो गई। मेरे लिए यह चर्चा काफी रोचक एवं आकर्षक थी । बहुत कुछ सोचने समझने पर विवश करती थी ।

न जाने क्यों ? आज मेरा मन उदास था । किसी को कुछ कहने या किसी का कुछ सुनने का मन ही नहीं हो रहा था । यही जी चाहता था कि कम्बल ओढ़ कर पड़ा रहूँ, किन्तु आश्रम का काम सिर पर था इसलिए विवशता थी । किसी तरह काम निपटाया । जब सब ओर से निवृत्त हुआ तो महाराजश्री को प्रणाम करने गया । चेहरा उतरा हुआ था । महाराजश्री ने पूछा कि "क्या बात है ? आज बहुत उदास दिखाई दे रहे हो ?" मैंने उत्तर दिया, "कारण तो मुझे भी ज्ञात नहीं, किन्तु मन बहुत उदास हैं ।" महाराजश्री ने पूछा, "क्या किसी ने कुछ कह दिया या घर की याद आ रही है?" उत्तर दिया, "दोनों ही बातें नहीं हैं ।"

प्रात: काल घूमते समय महाराजश्री ने फिर वही बात छेड़ी, "कभी कोई कारण दिखाई नहीं देता और हमारा मन बड़ा प्रसन्न होता है । कभी अकारण ही हम उदास हो जाते हैं । इसका कारण बाहर जगत् में नहीं होता, चित्त में होता है । वास्तव में चित्त को तरंगित करने वाला जगत् चित्त में ही है, जिसे संस्कार आशय कहा जाता है । इन्हीं संस्कारों से चित्त की अवस्था बनती है । यह ठीक है कि जगत् में किसी घटना से भी हमारे चित्त पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु घटना का मूल कारण भी हमारे संस्कार ही होते हैं । ये संस्कार अन्दर ही अन्दर चित्त में, अपनी स्थिति बदलने के साथ-साथ, चित्त की अवस्था भी बदल देते हैं । जब प्रसन्नता के संस्कार जाग्रत एवं उदार होकर, चित्त में वृत्तियों को तरंगित एवं प्रकाशित करते हैं तो अकारण ही मन प्रसन्नता से भर उठता है। इसके विपरीत जब उदासी के संस्कार उदय होते हैं तो उदासी तो होती है पर कोई कारण समझ नहीं आता ।

"तुम्हारी भी कुछ ऐसी स्थिति हो सकती है । वैसे तो ऐसी अवस्था सभी की होती है, परन्तु शक्तिपात् के साधकों के साथ ऐसा कुछ ज्यादा ही होता है क्योंकि क्रिया शक्ति संस्कारों को उभारती है । कभी बात-बात में क्रोध प्रकट होने लगता है। कभी गंदे अश्लील विचार आने लगते हैं । कभी क्षमा का भाव उभर आता है तो कभी अभिमान बहुत बढ़ जाता है । साधक को ये सब शान्त चित्त से सहन करना होते हैं। ऐसा नहीं कि शक्तिपात् की ये क्रियाएँ केवल साधन-समय ही घटित होती हैं, क्रिया शक्ति तो हर समय क्रियाशील रहती है। साधन समय की क्रिया प्रकट होती है तो साधनेतर समय की अप्रकट । व्यवहार-समय जब साधक का लक्ष्य साधन की ओर नहीं होता, तब भी अन्दर ही अन्दर क्रिया चलती है । ऐसे में यदि क्रिया में उदासी हो उठे, मन को तरंगित कर दे, चेहरे पर झलकने लगे, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।" मैंने कहा, "क्या इस प्रकार क्रिया होने में भी संस्कार क्षय हो जाते हैं ?" महाराजश्री ने कहा, "संस्कारों का क्षय क्रिया से नहीं होता । क्रिया का काम संस्कारों को उभारकर, उदार बना देना है । यह इस बात पर आधारित है कि आप उस उदार संस्कार पर कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं । यदि उत्तेजित हो जाएँ तो संस्कार क्षय तो क्या होगा और अधिक बलवान हो जायगा । यदि उसे सहनशीलता से ग्रहण करें, उत्तेजित अथवा क्रोधित न हों, तो संस्कार अपना जोर दिखाकर क्षीण हो जाता है ।"

मैंने फिर पूछा, "यदि संस्कार उदय होने पर प्रतिक्रिया हमारे अपने हाथ में है, तो फिर समर्पण का क्या अर्थ है ?" महाराजश्री कहने लगे, "यह तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है । बात समझने की है । संस्कार उदार होने पर प्रेरित क्रियाशक्ति नहीं करती, संस्कार करते हैं । संस्कारों की प्रेरणा के अनुसार कार्य

करना, क्रियाशक्ति के प्रति समर्पण कदापि नहीं कहा जा सकता । कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि क्रियाशक्ति के आदेश से हमने ऐसा किया । वे यह नहीं कहते कि क्रियाशक्ति ने संस्कार उभार दिए तथा संस्कारों के वशीभूत हमने ऐसा किया । यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा समझने का विषय है । सामान्य साधक यही भूल कर जाता है तथा क्रियाशक्ति के नाम पर, संस्कारों को समर्पण कर बैठता है । समर्पण पर क्रमवार विचार करने से विषय स्पष्ट हो जाएगा -

(१) **जाग्रति के उपरान्त क्रिया-शक्ति का लक्ष्य तथा उसके प्रति समर्पण का भाव सतत् बना रहना चाहिए ।** क्रिया-शक्ति दैवी-शक्ति है, सर्वज्ञ है, मंगलकारी है। उसकी प्रत्येक क्रिया जीव के हित में होती है । अत: जीव के अपने हित में ही है कि उसकी अधिक से अधिक क्रियाएँ प्रकट हों । जितना जीव अधिक संकल्प करता है उतनी ही शक्ति की क्रिया संकल्पाधीन हो जाती है, जबकि क्रिया का अर्थ है संस्कारों के आधार पर स्वतंत्र क्रिया । इसलिए सभी प्रकार के मानसिक संकल्प व प्रयत्न एक ओर रखकर क्रियाशक्ति की स्वतंत्र सत्ता के प्रति समर्पण कर दिया जाए। जीव आशाओं-इच्छाओं से जकड़ा होता है, हित-अहित का विचार कर पाने में असमर्थ है, अत: क्यों न उसी शक्ति के प्रति समर्पण किया जाए जो सदैव ही मंगलकारी है । यदि जगत में भी किसी के प्रति समर्पण किया जाए तो उसमें भी शक्ति का ही अनुभव किया जाए ।

(२) **यदि शक्ति की क्रियाओं में ही कल्याण है तो क्यों न उसे अबाध गति से होने दिया जाए ।** मानसिक संकल्प क्रिया में व्यवधान हैं, तब क्रिया संकल्प के अधीन हो जाती है, क्रिया कर्म बनकर रह जाती है तथा संस्कार संचित हो जाता है। इसलिए मन को क्रिया में विघ्न न बनने दिया जाए, अर्थात् क्रियाओं में हस्तक्षेप न किया जाए। शक्ति सर्वज्ञ होने से सब जानती है कि आपको कब कैसी क्रिया की आवश्यकता है। क्रिया के सब निर्णय शक्ति पर छोड़ दिए जाएँ तथा उसके प्रति समर्पित हो जाया जाए।

(३) **क्रिया-शक्ति, संचित एवं प्रारब्ध, दोनों प्रकार के संस्कारों को उभारती है।** संचित का वेग चित्त के अन्दर होता है, यदि साधक उस वेग से प्रभावित हो जाय तो जगत् में उसका व्यवहार भी प्रभावित होने लगता है तथा संस्कार भी संचय होने लगते हैं । यदि वेग को सहनकर लें तथा चित्त को प्रभावित न होने देवें, तो वह संस्कार जिसका वेग है, क्षीण हो जाता है । रही बात प्रारब्ध की तो शक्ति जब उसको उभारेगी तो अन्दर के साथ ही बाहर भी सुख-दुख प्रकट हो जायेगा । यह सुख-दुख शक्ति के द्वारा अवश्य प्रकट किया गया किन्तु इसका कारण प्रारब्ध है । जो फल पक चुका है उसको भोगे बिना अन्य उपाय नहीं है । साधक का समर्पण क्रियाशक्ति के प्रति है, प्रारब्ध के प्रति

नहीं । उसकी प्रतिक्रिया शक्ति के प्रति नहीं, प्रारब्ध के प्रति है । साधक की प्रारब्ध के प्रति एक ही प्रतिक्रिया हो सकती है, अपने किए को शान्त चित्त होकर भोग लिया जाय । इसमें शक्ति के प्रति समर्पण कहीं आड़े नहीं आता । यदि क्रियाशक्ति की भी मानी जाए, तो जिस प्रकार मन को प्रभावित किए बिना साधन कर्त्तव्य है, उसी प्रकार मन को अप्रभावित रखते हुए, प्रारब्ध के फल को सहन करना कर्त्तव्य तथा साधन है । यही शक्ति के प्रति समर्पण है । क्रिया शक्ति का यह गुण है कि वह आपके संस्कारों के संपर्क में आकर भी, उनसे अप्रभावित ही बनी रहती है । उसके इस गुण को आपको भी ग्रहण करना है, तभी आपका जीवत्त्व समाप्त हो पाएगा । इस गुण को ग्रहण करने का उपाय शक्ति के प्रति, अन्दर-बाहर समर्पण है।''

एक बार कुछ लोगों ने महाराजश्री से इस प्रकार निवेदन किया, ''यह स्थान आपका निवास-स्थान है, कोई आश्रम नहीं, फिर रोटीराम, चलते-फिरते तथा आवारा साधु-वेष-धारियों को ठहराने तथा भोजन कराने की क्या आवश्यकता है ?'' महाराजश्री ने कहा, ''मैं आपकी बात से सहमत नहीं । जहाँ कोई साधु रहता है, ब्रह्मचारी है, आश्रमवासी है, लोग बाहर से आते-जाते-साधन करते हैं, जहाँ रसोईघर है तथा भोजन बनता है, जहाँ मन्दिर में नित्य आरती होती है, वह आश्रम नहीं तो क्या है? आपका दृष्टि-कोण संकुचित है, इसलिए आप ऐसा सोचते हैं । कोई साधु यदि आता है तो खाता तो आश्रम का है, किन्तु कष्ट आपको होता है । यह साधु का आश्रम है, किसी गृहस्थ का घर नहीं । वैसे प्राचीन परम्परा अनुसार गृहस्थों के भी धर्म तथा नियम हैं, किन्तु आज युग बदल गया है । युग का यह प्रभाव मुझ पर नहीं डालें, यही अच्छा है ।''

यह सुनकर सबके चेहरे लटक गए किन्तु लोगों ने अभी भी हिम्मत नहीं हारी। बोले, ''यदि आते-जाते साधुओं को भोजन कराना ही है तो कम से कम यह तो देख लिया जाये कि कौन पात्र है ! कुछ तो छान-बीन होनी चाहिए ।'' इस पर महाराजश्री ने कहा, ''आप अच्छा या बुरा साधु परखने की बात करते हैं तो सर्वप्रथम वह परख आपमें से किसमें है ? जिसका अपना मन वासनाओं का घर बना हो, वह निस्पृह साधु की पहचान कैसे करेगा ? दूसरी बात, जिस दिन अच्छे साधु की परीक्षा आरंभ की उसी दिन से अच्छा साधु आना बन्द हो जाएगां । उसको क्या पड़ी है आपको परीक्षा देने की, और वह भी केवल दो रोटी के लिए ।

''आपके लिए यही उत्तम है कि आप सभी साधुओं को सद्पात्र समझें । आप अपने आपको अच्छे-बुरे की दुविधा में डालते ही क्यों हैं? ऐसा भाव ही

क्यों लाते हैं कि जिस साधु को हम भोजन करा रहे हैं, वह पता नहीं अधिकारी है या अनधिकारी । क्या यह भाव अधिक अच्छा नहीं कि वह कैसा भी है हमारे लिए तो अच्छा ही है ! साधु कैसा भी हो, किन्तु इस भाव से आपका मन अच्छा रहेगा, पर आजकल सोचने का यह ढंग हो गया है कि हम कैसे भी हैं इससे जगत् को क्या, किन्तु जगत् अच्छा होना चाहिए । हम जगत् सुधारने के पीछे लगे हैं । न जगत् सुधर रहा है न हम ।

"आने-जाने वाले साधुओं को अच्छा या बुरा होने का प्रमाण-पत्र देने का विचार त्याग दो । जगत् में अच्छाई-बुराई देखना, यह आपकी सबसे अधिक बुराई है। आश्रम की चिन्ता किए से आश्रम नहीं चलने वाला, आश्रम शंकर का है । उन्हीं के चलाए से चलता है ।

"हम अच्छे बुरे की पहचान कर नहीं सकते । जो आता और खाता है उसे आने दो । उनमें से, क्या पता, कौन अच्छा है । एक अच्छे साधु को भोजन कराने के लिए यदि सौ ठगों को भी भोजन कराना पड़े, तो यह भी कोई महँगा सौदा नहीं है ।

आपका तथा आश्रम के संबंध का आधार साधन है । आप उसी संबंध को मजबूत करो । यदि साधन को शक्ति मिल गई तो फिर चाहे कितने भी लोग आकर भोजन कर जावें । भगवान ने धर्मी-अधर्मी, सबके पेट भरने की व्यवस्था की है । यह नहीं कि वह अधर्मियों को भूखा रहता हो । फिर जो लोग आश्रम में नित्यप्रति आते हैं उन सबका मन क्या निर्मल है ? निर्मलता-मलिनता का विचार करने लगे तो शायद ही कोई यहाँ आ पाए ।"

एक दिन एक भक्त ने महाराजश्री से बड़ा विचित्र प्रश्न किया, "आप भारत भर में घूमे हैं । बहुत सुन्दर-सुन्दर स्थान आपने देखे होंगे । काश्मीर, हिमालय, समुद्र तट, फिर ऐसी क्या बात थी कि आश्रम बनाने के लिए आपने देवास पसंद किया ?" महाराजश्री पहले तो जोर से हँसे फिर इस प्रकार कहा, "आपका प्रश्न अपनी जगह ठीक है । मैंने चार कारणों से देवास पसंद किया -

(१) सबसे प्रथम कारण है प्रारब्ध । क्या संन्यासियों का प्रारब्ध नहीं होता ? भाग्य में देवास लिखा था, इसलिए वैसी परिस्थितियाँ बनती चली गई। वैसी ही युक्तियाँ सूझने लग गईं । देवास का अन्न, जल ग्रहण करना, देवास की धरती पर भ्रमण करना लिखा था । इसलिए देवास में आश्रम बन गया । भाग्य को भला कौन टाल सकता है ।

(२) दूसरा कारण है गुरु आज्ञा । गुरुदेव श्री योगानन्दजी महाराज से जब मैंने पूछा कि मैं कहाँ जाऊँ? तो उन्होंने कहा कि दक्षिण की ओर चले

जाओ तथा इन्दौर के आस-पास कहीं आसन जमा लो । ध्यान रहे कि गुरुजी का निवास ऋषिकेश में था, जो देवास के उत्तर में है । पहले मैंने महू पसन्द किया, फिर देवास में जम गया। उन दिनों बाँकेबिहारी लाल सक्सेना देवास महाराजा के सैक्रेटरी थे । मैं उज्जैन में मलेरिया से पीड़ित था । वहाँ से वह मुझे देवास ले आए। इस प्रकार देवास में १९४८ में मेरा प्रवेश हुआ । नारायण कुटी पर उन दिनों स्वामी नारायणानन्द सरस्वती नाम के महात्मा विराजमान थे। उन्होंने मुझे कहा कि आप भी इसी कुटी में आ जाइए, किन्तु उस समय कुटी बहुत छोटी थी । कुछ समय के पश्चात् नारायण स्वामी ब्रह्मलीन हो गये। कुटी खाली हो गई । लोगों ने प्रयत्न किया तथा मैं यहाँ आ गया । इस तरह परिस्थितियों ने साथ दिया ।

(३) तीसरा कारण है जलवायु । यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है । काश्मीर तथा हिमालय सुन्दर तो बहुत हैं पर सर्दी भी बहुत है । समुद्र तट भी सुन्दर है पर गर्मी है । देवास में न अधिक सरदी न अधिक गर्मी । फिर यह छोटी सी शांत जगह है ।

(४) चौथा कारण भौगोलिक है । भौगोलिक से मेरा तात्पर्य केवल भौतिक ही नहीं है । देवास भारत के ठीक मध्य में है । यदि भारत को एक श्रीयंत्र मान लिया जाये तो उसका मध्य बिन्दु देवास है । टेकड़ी पर चामुण्डा भगवती का मंदिर है तथा उसके ठीक चरणों में नारायण कुटी है । इसलिए भी नारायण कुटी मेरे मन को भा गई । यहाँ बैठकर साधन करने से भगवती शक्ति से सीधा संपर्क हो जाता है । यह तो आप जानते ही हैं कि श्रीयंत्र का मध्य बिन्दु पूज्य होता है । शरीर रूपी श्रीयंत्र में भी मध्य बिन्दु कुण्डलिनी ही है । आज भी इस मध्य बिन्दु देवास में तथा आसपास कई सिद्ध पुरुष अदृश्य रूप में रह रहे हैं । वे इधर-उधर भ्रमण करते तथा गंभीर साधकों की सहायता करते हैं एवं आशीर्वाद देते हैं । इसलिए भी मैंने देवास को पसंद किया ।''

प्रश्न - क्या आपने किसी ऐसे महापुरुष को देखा या अनुभव किया है? क्या आपको भी उनसे अध्यात्म में कुछ सहायता मिली है?

उत्तर - साधन संबंधी अपने अनुभवों को व्यक्त करना उचित नहीं, न ही ऐसा प्रश्न ही करना चाहिए, किन्तु एक बात निश्चित है कि मैं यदि ऐसा कह रहा हूँ तो उसका कुछ आधार अवश्य होगा ।

प्रश्न - किन्तु लोगों को तो ऐसे सिद्ध-पुरुषों का कुछ भी अनुभव नहीं होता है?

उत्तर - मैंने गंभीर साधक शब्द का प्रयोग किया है । सामान्य संसारी लोग ऐसा अनुभव प्राप्त करने में असमर्थ हैं । जो अच्छे उन्नत साधक हैं वे अवश्य अनुभव करते हैं ।

प्रश्न - फिर तो देवास वास्तव में ही साधकों के लिए अत्युत्तम है । एक तो चामुण्डा माताजी का मंदिर, दूसरे नारायण कुटी, उस पर आप जैसे संत पुरुष का सानिध्य । यह तो सोने पर सुहागे वाली बात हो गई !

उत्तर - शक्तिपात् के साधन में किसी के आधार या सहायता की आवश्यकता नहीं, किन्तु सत्पुरुष तथा वातावरण उसमें तीव्रता अवश्य प्रदान कर सकते हैं । देवास का दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है एक, देवास अर्थात् देवताओं का वास, देव + वास । वैसे तो देवताओं का वास सभी जगह है, पर देवास में साधकों पर कृपाशील होते हैं । काशी, वृन्दावन, हरिद्वार आदि भी नामभेद से देवास ही हैं । दूसरा अर्थ वह है जिसमें देवताओं से प्रार्थना की गई है कि हमें भी अपने लोकों में वास देने की कृपा करें । ताकि हम अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकें ।

सांसारिकता, व्यावहारिकता तथा संतों के चिन्तन में कितना अन्तर है यह इस घटना से ज्ञात होता है । आश्रम में निर्माण कार्य चल रहा था । जब काम अधिक था तो उसी के अनुपात से मजूदर लगाए हुए थे । कुछ दिनों में अधिकांश काम पूर्ण हो गया, किन्तु मजदूर उतने ही रहे । काम बहुत कम था तथा मजदूर बहुत अधिक । परिणामत: मजदूर इधर-उधर घूम-फिर कर समय व्यतीत करने लगे, पर उनकी मजदूरी आश्रम को देना ही पड़ती थी ।

यह बात कुछ लोगों को अखरने लगी । महाराजश्री से निवेदन किया, "अब निर्माण कार्य लगभग पूर्ण हो चुका है, बहुत थोड़ा ही बचा है । क्यों न मजदूर भी अब कम कर दिये जाएँ ? फालतू में इतना खर्च हो रहा है ।" महाराजश्री एकदम उठकर खड़े हो गए, बोले, "आपका तथा हमारा सोचने का ढंग भिन्न है । ये सभी मजदूर एक साथ काम पर लगे थे, तथा एक साथ ही सबको हटाया भी जाएगा । यदि कुछ को अभी हटा दिया तो उनके मन पर क्या बीतेगी, फिर इन सबके बाल-बच्चे हैं, महँगाई भी कितनी है । अभी तो इनका खर्च चलता है । फिर कोई दूसरा काम कब मिलेगा, या न भी मिले, इसका कोई ठिकाना नहीं । जब तक चलता है चलने दो । हमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु इन लोगों को बहुत अन्तर पड़ जाता है।"

फिर महाराजश्री अपने पूर्व आश्रम की, एक महात्मा की बात करने लगे, "हरियाणा में, जहाँ इस शरीर का जन्म हुआ, हनुमानदासजी महात्मा हो गए हैं। हनुमानदासजी भक्त थे तथा रामायण का पाठ बहुत करते थे । उनके पास सेवा बहुत आया करती थी । लोगों में उनकी काफी मान्यता थी । उस गाँव में पानी की कमी भी थी तथा पानी खारा भी था । इसलिए उन्होंने बहुत बड़ा एक

तालाब खुदवाने का काम आरंभ कर रखा था । जो सेवा आती, या तो उसी दिन बाँट देते या मजदूरों को अग्रिम दे देते थे । मजदूरों के पास एक-एक, दो-दो वर्ष का अग्रिम जमा हो जाता था, किन्तु हिसाब कौन रखे? वह कहा करते थे कि तालाब खोदने का तो एक बहाना है, कुछ लोगों को काम मिला हुआ है । मुझे हनुमानदासजी पर बहुत श्रद्धा थी । प्राय: उनके दर्शन करने जाया करता था । उनके प्रति श्रद्धा के संस्कार ऐसे अंकित हुए कि आज तक बने हैं।''

हनुमानदासजी की चर्चा आरंभ हो गई तो उनसे संबंधित अन्य बातें भी होने लगीं । जब हनुमानदासजी के गुरु महाराज, ब्रह्मलीन हुए तो उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न खड़ा हुआ । सब लोगों की राय थी कि इसके लिए हनुमानदासजी ही योग्यतम तथा सशक्त चुनाव हैं । सभी उनको ही गादी पर बैठाने पर अड़ गए । हनुमानदासजी ठहरे पूर्ण वैराग्यवान । वह आश्रम के झमेले में पड़ने के लिए तैयार नहीं थे, किन्तु लोग उन्हें ही बैठाने पर तुले थे। अन्तत: हनुमानदासजी ने इस समस्या से बच निकलने के लिए युक्ति सोच ली। दूसरे दिन गाँव की भंगन सिर पर टोकरी में रोटियाँ लिए जा रही थी । आप भागकर गए, टोकरी में से एक रोटी उठाई और खाने लगे । साथ ही साथ चिल्लाते जाते थे कि उन्होंने भंगन की रोटी खा ली है, अब वह ब्राह्मण नहीं रहे । उस जमाने में छुआछूत का प्रचार बहुत था । हनुमानदासजी की समस्या हल हो गई ।

गाँव में एक ही कुआँ था, वह भी खारे पानी का । मीठे पानी का बहुत कष्ट था । काफी दूर से लाना पड़ता था । एक दिन एक धनाढ्य व्यक्ति हनुमानदासजी के पास आया तथा उसने बीस रुपए भेंट किए । उस जमाने में बीस रूपए बहुत होते थे। उसने निवदेन किया कि आप मीठे पानी के लिए तालाब बनवा रहे हैं, इन रुपयों को भी उसी काम में लगा लीजिए । तब हनुमानदासजी ने एक व्यक्ति को कुएँ से पानी की एक बाल्टी भर कर लाने को कहा । पानी आ जाने पर, धनाढ्य व्यक्ति को थोड़ा जल ग्रहण करने को कहा । पानी पीते ही वह व्यक्ति बोल उठा, "यह पानी मीठा कैसे हो गया? हनुमानदासजी ने कहा कि आप अपने रुपए उठा लें । बाद में उन्होंने कहा कि इस आदमी की कमाई धर्म की नहीं हैं, इसलिए सेवा नहीं ली ।

उसके पश्चात् महाराजश्री ने कहा कि "आप लोग ही बताएँ कि ऐसे संस्कारों के होते हुए मजदूरों को कैसे निकाल दूँ?'' सबके मुँह बन्द थे । क्या कहें? कुछ सूझ नहीं रहा था । अन्त में सबने चरण छुए तथा बिदा ली ।

आज आश्रम में कई मकान बन गए है किन्तु १९६० के आश्रम का स्वरूप बहुत भिन्न था । एक मंदिर वह भी छोटा सा, एक रसोई घर, आज के रसोई घर की अपेक्षा बहुत छोटा तथा महाराजश्री का निवास-स्थान, बाकी सब जगह खुली। टेकड़ी की तलहटी में तो आश्रम स्थित है ही, समझो पहाड़ी के आधे में ही है । देवास नगर उससे बहुत नीचे है । उस समय पुश्ते (Retaining walls) भी ऐसे नहीं बने थे, जमीन भी कम ही समतल थी । जेनिया तथा गेंदा के फूल ही फूल उगे हुए थे । आश्रम चारों ओर से खुला था जिससे फूलों के पौधे पहाड़ी पर भी बहुत दूर तक चले गए थे । एक ओर गहरा नाला था, आश्रम के नीचे की ओर भी फूलों की बहार थी । इससे आश्रम बड़ा ही सुहावना प्रतीत होता था जैसे फूलों का बहुत बड़ा एक बगीचा हो । मैं जब पहले दिन यहाँ आया था, तब मैं देखता ही रह गया था । आश्रम के आस-पास, दूर-दूर तक एक भी मकान नहीं था । रेल्वे स्टेशन का नव-निर्मित भवन अकेला खड़ा, चमकता दिखाई देता था । अभी-अभी वर्षा ऋतु समाप्त हुई थी, चारों ओर हरियाली फैली थी । सबसे बढ़कर महाराजश्री के व्यक्तित्त्व का प्रभाव था ।

एक दिन मैंने महाराजश्री से कहा, "आश्रम कितना सुन्दर है, सब तरफ फूलों से ढका हुआ, एकान्त, शान्त, साँपों की सरसराहट, गिलहरियों की उछल-कूद । मन चाहता है इस सौंदर्य में अपने आपको डुबो दूँ ।" तब महाराजश्री हँस दिए थे, बोले, "यह सौन्दर्य तथा असौन्दर्य सब माया का भ्रम है । माया अनेकानेक रूप धारण कर प्रकट होती है । कभी सौंदर्य से मोह लेती है तो कभी कुरूपता से भयभीत कर देती है । यदि गगनचुम्बी उच्च पर्वतमालाएँ हैं तो अत्यन्त गहरी वादियाँ भी । अतीत की दुखदायी पीड़ाएँ हैं तो भविष्य के सुनहरे सपने भी । ममता की स्नेहमयी शीतल छाया है तो हृदय की कठोरता की तपिश भी । ये सब माया की कारस्तानियाँ हैं । मित्र से यदि प्रेम पाश में बाँध देती है तो शत्रु से घृणा तथा क्रोध की डोरी से । शत्रुभाव तथा मित्रभाव दोनों बंधन हैं । उसी प्रकार सौंदर्य तथा असौंदर्य दोनों किसी न किसी रूप में चित्त को प्रभावित करते, तरंगित करते एवं मन पर स्मृतियाँ अंकित करते हैं, प्रत्येक मनुष्य जगत् में सुख चाहता है । सुन्दर रूप, मधुर ध्वनि, कोमल स्पर्श, सभी यही चाहते हैं, किन्तु ये सब भी उतने ही घातक हैं जितनी कि कुरूपता इत्यादि । सच पूछा जाय तो ये सब कहीं अधिक घातक हैं । अब तुम अपना ही उदाहरण लो । आश्रम में तुमने सौन्दर्य की कल्पना की तो उसमें डूब जाने का मन बना लिया । यह भी भूल गए कि यह सब माया है । माया के पास अनेक प्रकार के शस्त्र हैं । वह तरह-तरह से लुभाना, उलझाना, फँसाना, भरमाना तथा बहकाना जानती है । एक शस्त्र यदि कभी काम नहीं भी करे तो दूसरा प्रयोग करती है । समझाने से नहीं माने तो प्रेमी बनकर मन को प्रभावित

करती है । लोभ, मोह, क्रोध, भय, प्रेम, युक्ति अथवा छल, जो भी जीव पर सफल हो सके, वही शस्त्र अपना लेती है । कभी सुंदर रूप बनाकर जगत् में बुलाती है तो कभी कुरूपता दिखाकर जगत् में धकेलती है ।

"विचारवान, योगी तथा भक्त माया के बहकावे में आने से इनकार कर देते हैं। वे अपने मन को सँभालकर रखते हैं । यदि मन कभी मचलने भी लगे तो उस पर विवेक या प्रेम का अंकुश लगाकर वश में कर लेते हैं । वे जानते हैं कि रूप तथा कुरूप दोनों की पृष्ठभूमि में माया ही खड़ी है, इसीलिए माया को नटनी, ठगनी आदि शब्दों से संबोधित किया जाता है । यह समय के अनुरूप, अपना रूप बदल लेने में बड़ी दक्ष है । रूपवान को कुरूप तथा कुरूप को रूपवान दिखा सकती है । यह विष को अमृत दिखाकर किसी को पिला सकती है । कर्त्तव्य तथा आदर्श की बातें सुझाकर किसी को फाँसी पर चढ़वा सकती है । बड़े को छोटा तथा छोटे को बड़ा, पापात्मा को पुण्यात्मा तथा पुण्यात्मा को पापात्मा दिखा सकती है । यह इतनी शक्तिशाली है कि इसने भगवान को भी अपने अन्दर छुपाकर रख लिया है ।"

महाराजश्री की बातें सुनकर मैं ठगा सा रह गया, मुँह खुला का खुला था। कितनी देर तो यह समझ ही नहीं आई कि क्या बात करूँ । मन जैसे स्थिर होकर रह गया । फिर किसी तरह अपने आपको सँभाला और कहा, "माया का ऐसा रूप? मैंने कल्पना नहीं की थी । हमारे प्राचीन ऋषि मुनि तो प्रकृति की गोद में बैठकर ही साधना करते थे । कल-कल करते झरनों तथा फलों से लदे वृक्षों को पसंद करते थे। नगरों से दूर, प्रकृति की छटाओं में जीवनयापन करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। उन्हीं बातों के संस्कारों मेरे अन्तर में भी घर किए बैठे हैं । इसीलिए मैंने ऐसा कहा।"

महाराजश्री ने कहा, "ऋषि लोग माया के हथकण्डों तथा करतूतों से भली-भाँति परिचित थे । पहली बात तो यह है कि नगरों में फिसलने के साधन बहुत होते हैं । इसलिए वह नगरों से दूर वनों में साधना करना अधिक उपयुक्त समझते थे । जब तक जीवन है शरीर रक्षण एवं उदर पूर्ति आवश्यक है । जल तो आवश्यक है ही, इसीलिए वह फलदार वृक्ष तथा नदी-झरनों को पसंद करते थे । वन में भी हिंसक पशुओं का भय होता है, किन्तु इस भय से भी अधिक भयपूर्ण वासना को मानते थे। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उन्हें वन के सौन्दर्य से आसक्ति थी । वे जानते थे कि मूल समस्या आसक्ति है, वह चाहे नगर में हो या वन में ।"

मैंने कहा, "सामान्य संसारी गृहस्थ साधक, जिस पर कई उत्तरदायित्त्व है, नगर त्याग कर, वन में रहकर, साधना करने की सोच भी नहीं सकता । वह क्या करे?"

महाराजश्री ने कहा, ''हम जानते हैं कि गृहस्थ की क्या समस्याएँ हैं। हम स्वयं भी इनको भुगत चुके हैं। वे आसक्ति का त्याग तो कर सकते हैं। वन में रहना महत्त्वपूर्ण नहीं, चित्त की अवस्था महत्त्वपूर्ण है। बड़े-बड़े संत भी गृहस्थ हो गए हैं। यदि आसक्ति न हो तो सौंदर्य-असौंदर्य,रूप-कुरूप तथा सुख-दुःख एक समान हो जाएँ।''

प्रश्न - ''किन्तु जैसा कि आप अपने प्रवचनों में कहते भी हैं तथा आपकी पुस्तकों के अध्ययन से भी यही विचार पुष्ट होता है कि आसक्ति का त्याग बहुत ही कठिन है। योगी, तपस्वी व भक्त भी आसक्ति का त्याग कर पाने में कठिनाई अनुभव करते हैं तो क्या सौन्दर्य-असौन्दर्य बोध कभी समाप्त नहीं हो सकता?''

उत्तर - ''जब तक आसक्ति-समाप्ति की स्वाभाविक अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक संयम करना होगा। सौन्दर्य-बोध आपको विचलित करता रहेगा। प्रत्येक आक्रमण में साधक का कोई न कोई संस्कार क्षीण होगा। यदि सहनशीलता से च्युत हो गया तो संस्कार और भी प्रबल रूप धारण कर लेंगे। यह काफी लम्बी साधना है जिस के लिए बहुत अधिक धैर्य की आवश्यकता है। संस्कार क्षय के साथ-साथ आसक्ति भी कमजोर होती जाएगी एवं कालान्तर में सौन्दर्य-बोध समाप्त होगा। यदि कभी साधन-पथ से गिर भी गए, तो फिर से सँभल कर, साधन पर आरूढ़ हो जाना चाहिए, छोड़ नहीं देना।''

एक सज्जन दिल्ली से आए हुए थे। काफी श्रद्धालु प्रतीत होते थे। उन्होंने महाराजश्री से निवेदन किया, ''मेरे दो लड़के हैं। दोनों की, आपकी कृपा से अच्छी-भली नौकरी है। हर प्रकार से खुशहाल हैं। मेरी भी यह इच्छा है तथा वे दोनों भी चाहते हैं कि आपकी कुछ सेवा हो जाया करे। इसलिए यदि आपकी अनुमति हो जाए तो मैं लड़कों को कह दूँ। वह आप की सेवा में मासिक कुछ भेज दिया करें।''

महाराजश्री ने कहा, ''हमारे यहाँ मासिक सेवा की कोई परिपाटी नहीं है। कुछ लोगों ने ऐसी इच्छा व्यक्त की भी किन्तु हमने अनुमति नहीं दी। अब यदि आपको हम अनुमति दे देते हैं तो दूसरे लोग क्या सोचेंगे।

''अनुमति नहीं देने का दूसरा कारण यह है कि किसी के आश्रित हम नहीं हो जाना चाहते। साधक को भगवान के ही आश्रित होना चहिए। मन में यह विचार आ ही जाता है कि अमुक से मासिक आता ही है, क्या चिन्ता है?

''मासिक बंधान के कारण साधक फिर पोस्टमैन का रास्ता देखने लग

जाता है। आज तो मनीआर्डर आ ही जाना चाहिए था, पता नहीं क्यों नहीं आया। मैंने अमुक वस्तु लेना थी, उसके पैसे देने थे, आदि, आदि ।

"आप का सेवा करना कर्त्तव्य है किन्तु मासिक नहीं । गुरुपूर्णिमा पर कभी यहाँ आएँ तब अथवा कभी कभार, जब आप की इच्छा हो, तो मनीआर्डर द्वारा भी भेज सकते हैं । हम संन्यासी हैं, हमारा काम तो चलता ही है, किन्तु आप को तंग होकर, घर के खर्च में से निकालकर, या उधार लेकर सेवा नहीं करना है । जितनी शक्ति हो, जितना आप सहन कर सकते हों, उतनी ही सेवा करें । वास्तविक सेवा आप आप की साधना है । उससे आपके गुरु का कार्य सरल हो जाता है क्योंकि शिष्य गुरु से बँधा होता है । यदि वह साधन नहीं करे तो गुरु के पाँव में बँधे भारी पत्थर के समान है ।

कई बार मन में यह विचार आता था कि महाराजश्री भक्त हैं, योगी हैं अथवा ज्ञानी हैं । इनका व्यक्तित्त्व, जैसे तीनों स्वरूपों को एक साथ समेटे हुए था । जब किसी शास्त्र की चर्चा होती थी तो धाराप्रवाह उसकी व्याख्या करते थे । चाहे तंत्र हो या पुराण, वेद हो या गीता, उनका समान रूप से सब पर अधिकार था । 'सौन्दर्य लहरी' पर आपकी लिखी टीका बेजोड़ है तो 'उपनिषद वाणी' में उपनिषदों का सार है। आप लम्बी व्याख्या नहीं करते थे पर बात ऐसी पते की कहते थे कि श्रोता को बहुत कुछ मिल जाता था । जो बात अनेक व्याख्यान सुनने तथा अध्ययन करने से भी समझ नहीं आती थी उसे क्षण-मात्र में समझा देते थे । यह ज्ञानी का स्वरूप था ।

महाराजश्री के पास एक शास्त्री जी आए । विद्वत्ता का अभिमान लिए हुए थे । प्रणाम करने की सामान्य सी प्रथा का निर्वाह करने की भी आवश्यकता नहीं समझी। सीधे आए और बैठ गए । महाराजश्री भी उनके भाव को समझ गए । उन्होंने कोई प्रश्न करना आरंभ किया ।

महाराजश्री ने कहा, "शास्त्री जी, प्रश्न कई दृष्टियों से किया जाता है- (१) अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए, तो मैं आपको प्रकाण्ड विद्वान स्वीकार करता हूँ ।

(२) परीक्षा लेने के लिए । यदि ऐसी बात हो तो मैं अपने आपको परीक्षा के लिए अयोग्य घोषित करता हूँ ।

(३) वाद-विवाद में हराने के लिए । यदि ऐसी बात हो तो मैं अपने आपको पराजित तथा आपको विजेता स्वीकार करता हूँ ।

(४) समय काटने के लिए। यदि ऐसी बात हो तो मेरा कहना यह है कि आप मेरा तथा अपना समय नष्ट न करें।

(५) जिज्ञासा की शान्ति के लिए। यदि ऐसी बात हो तो आप प्रश्न करें, समाधान करने का अवश्य प्रयत्न करूँगा।''

ऐसी विनम्रता एवं निरभिमानता एक भक्त का ही लक्षण हो सकता है। शास्त्रीजी मन ही मन लज्जित हो गए। उनके मन की झेंप उनके चेहरे पर उभर आई, बोले, ''मैं जिज्ञासावश ही प्रश्न कर रहा हूँ। ठीक है कि आपके पास आने तक मुझ में विद्वत्ता का अभिमान था किन्तु आपकी विनम्रता के वेग में सभी अभिमान उड़ गया है।'' फिर तो सत्संग आरंभ हो गया। शास्त्रीजी ने भी जी भर कर प्रश्न किए तथा महाराजश्री ने भी प्रेमपूर्वक सबका समाधान किया। यह महाराजश्री का ज्ञानी का स्वरूप था।

एक दिन एक संत आए तो तंत्र पर चर्चा चलने लगी। महाराजश्री का गहन विषयों का अनुभवयुक्त तथा विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण सुनकर ऐसा लगा था मानों तंत्र ही आप का विषय हो। वैसे भी आपने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम' तथा 'शिवसूत्र' पर टीका लिखी ही है। 'सौन्दर्य लहरी' का आधार भी तंत्र ही है। जिस पर आपकी टीका, आपकी विशिष्ट रचना है। कुछ समझ नहीं आ रहा था कि महाराजश्री को किस प्रकार का महात्मा माना जाए। जैसे विभिन्न धाराएँ एक ही नदी में आकर मिलती जाती हैं तथा वह विशाल आकार धारण कर लेती है उसी प्रकार विभिन्न विद्याएँ महाराजश्री में प्रकाशित होती गई एवं आपका व्यक्तित्त्व अधिकाधिक अलोकिक होता गया । आपका योग मार्ग का ज्ञान तथा अनुभव अद्वितीय था। आप का हृदय भगवद्भाव से परिपूर्ण था। तारा विज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान, राजनीति, कौन सा क्षेत्र था जो अछूता था, यहाँ तक कि पाक-कला, निर्माण-कार्य, बगीचे का ज्ञान तथा सामाजिक ज्ञान में भी आपकी अच्छी पैठ थी।

इतना ही नहीं, साधन के क्षेत्र में भी आपकी पहुँच अनुपम थी। साधन के आपके अनुभवों को देखते हुए, अन्य साधक बहुत बौने प्रतीत होते थे। इस पर विशेषता यह कि अभिमान नहीं। ठीक भी है यदि अभिमान हुआ तो साधन में उन्नति कैसी? अभिमान करना संसारियों का काम है, साधकों का नहीं। आपका स्वभाव एक छोटे बालक की तरह था। यदि नाराज भी हो गए तो अगले ही क्षण प्रसन्न। देख-देख कर आश्चर्य होता था कि यह भोला-भाला व्यक्ति इतना बड़ा महात्मा है। अपने से कोई भूल हो जाए तो स्वीकार कर लेने में कोई संकोच नहीं। रहन-सहन तथा पहरावा एकदम सीधा। कोई छल नहीं कोई कपट नहीं।

प्रात: कालीन भ्रमण में आप बड़े नियमित थे । सर्दी हो या गर्मी, इसमें कभी व्यवधान नहीं आता था । वर्षा में छाता लेकर जाया करते थे । साधन की अवस्था दिन भर बनी रहती थी । आप कहते, "चित्त की जो अवस्था कभी-कभी, कुरसी पर बैठ-बैठे स्वयमेव आ जाती है, वह साधन-समय भी कठिनता से आती है ।" यह तो मैंने कई बार अनुभव किया है कि आप आसक्ति से कितने दूर थे । यदि यह कहा जाए कि आप सदैव भगवद्भाव में रहते थे, तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं ।

आडम्बररहित जीवन आपका स्वभाव था । एक बार सर्दी का मौसम था। एक स्वैटर से काम नहीं चलता था । आपने पूरे बाजू का स्वैटर नीचे पहन लिया तथा आधे बाजू का ऊपर । मुझे बड़ा विचित्र सा लगा, किन्तु आपने कहा, "सर्दी का बचाव ही तो करना है । लोग हँसते हैं तो हँसते रहें ।" यदि यह कहा जाए कि आपका सारा जीवन, जीवन की प्रत्येक घटना तथा विचार क्रिया रूप ही था, तो यह भी ठीक ही होगा । आप जानते ही हैं कि कर्म अभिमान युक्त होता है, क्रिया स्वाभाविक होती है। आडम्बर में अभिमान होता है, स्वाभाविकता में नहीं । जो नहीं हो, वैसे दीखने का प्रयत्न आडम्बर है ।

दया के तो आप भण्डार थे । एक बार आश्रम में एक साधु आया । आपने यथोचित आव-भगत की । उस साधु ने कहा कि उसको बम्बई जाना है पर उसके पास पैसे नहीं हैं । यदि व्यवस्था हो जाए तो कृपा होगी । आपने कहा कि व्यवस्था कर दी जाएगी । बातचीत में उस साधु ने कुछ झूठ बोल दिया जिस पर आप नाराज हो गए तथा उस साधु को चले जाने को कहा । साधु के चले जाने पर कुछ देर आप गंभीर बने रहे । फिर एक व्यक्ति को बुलाकर कहा कि वह साधु रेल्वे स्टेशन गया है । जाकर उसे बम्बई का एक टिकट ले दो । पास में से किसी ने कहा कि उस साधु को बम्बई जाना ही नहीं है । वह केवल आपसे पैसे ठगने के लिए ऐसा कह रहा था। आपने कहा, "यदि वह ठग भी है तो उसे ठगने दो । ठगने में पाप है, ठगे जाने में नहीं । वह यहाँ किसी आशा से आया है । हमारा क्या है, यदि एक दिन खाने को नहीं मिला तो न सही ।"

आश्रम पर जब निर्माण-कार्य चलता था तो वहाँ एक मिस्त्री कार्य करता था । जब यहाँ काम समाप्त हो गया तो उसने किसी दूसरी जगह काम करना शुरू कर दिया, जहाँ वह एक दिन गिर गया तथा काफी घायल हो गया । जब आपने यह सुना तो उसके घर उपचार के लिए कुछ रुपये भिजवा दिए । यह भी कहला भेजा कि और आवश्यकता हो तो मँगवा लेना । आश्रम पर दूध देने वाले को बोल दिया कि उसके घर एक सेर दूध आश्रम खाते में, दें आया करें।

इतने पर भी जब संतोष। नहीं हुआ तो उसको देखने के लिए उसके घर जा पहुँचे। मैं महाराजश्री की लीलाएँ देख-देख कर चकित हो रहा था । आज के मायावी, स्वार्थमय तथा क्रूर जगत् में ऐसा कोमल व्यक्तित्त्व !

आप घुटनों से ऊँची धोती तथा पाँवो में हवाई चप्पल पहना करते थे, एक बार सर्दी का मौसम था । मैं प्रात: समय महाराजश्री के साथ घूमने गया था । मैंने भी हवाई चप्पल पहन रखी थी । तेज हवा तथा सख्त ठण्डक थी । मुझे पाँवो में बहुत सर्दी लग रही थी । मन में विचार आया कि यदि महाराजश्री बन्द जूते पहन ले तो संभव है मुझे भी एक जोड़ी मिल जाए । मनुष्य कितना चालाक है, किन्तु स्वार्थ की बात कैसे घुमाकर, ढककर करता है । बहाना तो महाराजश्री का था, किन्तु स्वार्थ अपना था । मैंने कहा, ''महाराज जी, ठण्डक बहुत है, आपके पाँवो को भी लगती होगी । क्यों न एक जोड़ बंद जूता ले लिया जाए !'' किन्तु महाराजश्री के उत्तर ने मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया । बोले, ''क्या करना है। थोड़े दिनों की ही तो ठण्डक है, यहाँ जब शीत लहर चलती है तो दो चार दिन ठण्डक होती है । आगे पीछे मौसम सुहावना रहता है ।''

मेरी स्वार्थमय योजना ढेर हो गई, किन्तु इसने मुझे महाराजश्री के साथ अपनी तुलना करने पर विवश कर दिया । एक ओर त्याग का दृष्टिकोन तथा दूसरी ओर स्वार्थ भरी मनोवृत्ति। महाराजश्री की साधुता के सामने मैने अपने आपको सांसारिक पाया। मुझ में सहनशीलता की कितनी कमी थी । मेरे मुख से एक शब्द तक नहीं निकल सका । मुझे महाराजश्री से अपना अन्तर ज्ञात हो गया।

खाने के समय महाराजश्री का आग्रह रहता था कि सबको, सब कुछ परोसा जाए । यह नहीं कि स्वयं तो बढ़िया बनाकर खा लिया तथा दूसरों को कुछ भी दे दिया जाए । उन का यह भी आदेश था कि जो लोग रसोई में काम करते है उनको भी सब कुछ मिलना चाहिए । एक बार खीर बनी थी । मैं परोसगारी कर रहा था । लोग माँगते गए, मैं देता गया । अन्त में जब खाली पतीले (भगौंने) में कड़छी बजने की आवाज सुनी, तो महाराजश्री समझ गए कि खीर खत्म हो गई हैं । पूछा, ''आप लोगों के लिए खीर नहीं बची क्या?'' मैंने कहा, ''कोई बात नहीं, फिर बनेगी तो हम खा लेंगे ।'' कहने लगे, ''यह गलत बात है । जो लोग रसोईघर में काम, करें वही नहीं खाएँ । क्या यह उचित है?अपने लिए बचा कर परोसा करो । नहीं हो, तो कह दो, कोई बुरा नहीं मानेंगा।'' उसके पश्चात् मैं सावधान हो गया ।

ऐसे थे महाराजश्री तथा ऐसी थी उनकी बातें।



एक बार मेरे जी में आया कि गायत्री का पुरश्चरण करूँ । मैंने उचित अवसर पाकर महाराजश्री से निवेदन किया तो कहने लगे, "सोचेंगे" । दो चार दिन के पश्चात् कहा तो कहने लगे, "अच्छा विचार करेंगे ।" अब मुझे बार-बार बात करते संकोच होने लगा । फिर भी एक बार हिम्मत बटोर कर बात कर ही दी । महाराजश्री ने कहा, "ऐसा करो, पहले तुम एक माला से आरम्भ करो । जब एक माला होने लग जाएगी तो फिर आगे विचार कर लेंगे ।" मैंने "बहुत अच्छा जी," कह दिया ।

दूसरे दिन स्नान इत्यादि करके,माला लेकर आसन पर बैठा । अभी दो चार मनके ही घुमा पाया था कि बड़े वेग से क्रिया चालू हो गई । माला दूर जा पड़ी । जब क्रिया का वेग शान्त हुआ, उठा माला सँभाली और जप आरंभ किया ही था कि क्रिया शुरु । उस दिन लाख प्रयत्न करने पर भी जप नहीं चल पाया । अगले दिन भी यही हुआ तथा अगले से अगले दिन भी । लाचार होकर महाराजश्री से निवेदन किया तो वह हँसने लगे, "यदि माला भी नहीं हो पाती तो फिर तुम कैसे करोगे पुरश्चरण !"

"शक्तिपात् दीक्षा के पश्चात्, जब क्रिया का विकास हो जाए तो पुरश्चरण कठिन है, क्योंकि क्रिया आड़े आ जाती है । जहाँ साधक ने जप के लिए मन एकाग्र किया कि क्रिया शुरू हो जाती है । यदि क्रिया का वेग अत्यन्त तीव्र हो तब तो यह और भी कठिन है । इसलिए उत्तम यही है कि तुम पुरश्चरण का विचार छोड़ दो । मैंने पहले तुम्हें इसलिए नहीं कहा कि तुम्हें अनुभव ले लेने दिया जाए तब मेरी बात समझना आसान हो जाएगा । सच पूछो तो तुम्हें अब इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है. पुरश्चरण इत्यादि शक्ति की जाग्रति के लिए ही साधनाएँ हैं । ठीक है कि सकाम अनुष्ठान भी होते हैं जिनमें जाग्रति का प्रश्न ही नहीं । आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किए गए अनुष्ठानों में ही जाग्रति का प्रश्न है । यदि पुरश्चरण-अनुष्ठान प्राण के आधार पर किया जाए तो जाग्रति की शीघ्र संभावना है । मन, बुद्धि तथा हृदय के आधार पर करने से थोड़ी अधिक देर लगती है । शक्तिपात् में यही लक्ष्य गुरु-कृपा से प्राप्त होता है । फिर पुरश्चरण की कोई आवश्यकता नहीं रहती । साधना का स्वरूप बदलकर साधन हो जाता है । अब तुम वापिस प्रयत्नपूर्ण अहंकारयुक्त साधन में क्यों लौटना चाहते हो ? अपना साधन करो । इस साधन से तुम्हारा मन निर्मल होता चला जाएगा ।"

मैंने कहा, "क्या इसका यह अर्थ लिया जाए कि शक्ति जाग्रति तथा क्रियाशीलता के पश्चात्, पूजा-पाठ-जप इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं है?" महाराजश्री ने कहा, "तुम्हें तो कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु यदि क्रिया

को आवश्यकता हो, तो है। अर्थात् जाग्रति के पश्चात् पूजा-पाठ-जप इत्यादि क्रिया रूप ही होना चाहिए। जब वैसी क्रिया बन्द हो जाती है तो पूजा-पाठ भी छूट जाता है। तब करने बैठो तो नहीं हो पाता। जिस प्रकार अब तुम गायत्री जप करने बैठे, किन्तु कर नहीं पाए। इसका अर्थ है कि तुम्हारा जप क्रिया रूप नहीं था, केवल लोगों की बातें सुनकर ही पुरश्चरण करने की वासना उत्पन्न हुई।''

मैंने फिर कहा, ''मैं इस समय, 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' पढ़ रहा हूँ। उसमें लिखा है कि जाग्रति के पश्चात् किया गया जप -कीर्तनादि क्रियाशीलता को गति प्रदान करता है।''

इस पर महाराजश्री ने कहा, ''उसी समय तक, जब तक क्रिया प्रकट नहीं हो। जप कीर्तनादि कब तक चल पाएगा, इसका निश्चित नहीं। जब क्रिया की तीव्रता प्रकट हो जाती है तो यह अपने आप बन्द हो जाता है या क्रियारूप हो जाता है। पुरश्चरण या अनुष्ठान में जप की निश्चित संख्या पूरी करना होती है, जो संभव नहीं हो पाता, इसलिए नियम बनाकर जप-कीर्तनादि नहीं हो पाता। हो ज़ाए, कितना भी हो जाए, नहीं हो, तो एकदम ही नहीं हो। क्रियाओं में भी जप-कीर्तन, प्राणायाम आदि प्रकट होते हैं, किन्तु जब तक वह क्रिया रहती है, तभी तक।''

मैंने कहा, ''भाव यह हुआ कि पुरश्चरण करने का प्रयत्न समर्पण भाव के विपरीत है।'' महाराजश्री बोले, ''हाँ, शक्तिपात् के साधक को क्रिया के विकास में बाधक बनने से अपने आपको रोकना होता है। अपना प्रयत्न समाप्त होगा, तभी स्वाभाविक क्रिया का विकास होगा।''

इस पर मैंने पुनः प्रश्न किया, ''जगत् में जो सुख-दुख आते हैं, उन्हें सहन करना क्या समर्पण है ?'' उत्तर मिला, ''सुख-दुख प्रारब्ध के आधार पर, शक्ति की क्रियाशीलता का परिणाम या फल है। वह जो भी फल प्रदान करे उसे स्वीकार कर सहन करना समर्पण ही है। यदि साधक ने प्रतिकार किया तो उसका अर्थ है कि उसने स्वीकार नहीं किया। प्रतिकार करने का यह अर्थ भी है कि उस फल का प्रभाव साधक ने, मन पर ग्रहण किया है जो कि पुनः संस्कार संचय का कारण है। ये सब बातें साधक के लिए गंभीरतापूर्वक विचारणीय हैं तथा साधन में सहायक हैं।

महाराजश्री के मिलने वाले एक जज साहिब थे। उज्जैन से वह सेवा निवृत्त हो गए थे। एक दिन प्रातः भ्रमण के लिए गए तो रेल्वे स्टेशन पर एक

बैंच पर बैठे मिल गए । परस्पर अभिवादन के पश्चात् महाराजश्री ने कहा, "जज साहिब, निवृत्त होने के पश्चात् आप क्या कर रहे हैं?" जज साहिब ने कहा, "पहिले दूध में से पानी निकालते थे, अब मिलाते हैं । अर्थात् पहिले न्यायाधीश थे, अबं वकालत करते हैं ।" और खिलखिला कर हँस पड़े ।

जज साहिब से विदा होने के पश्चात् महाराजश्री ने कहा, "इन्होंने कितनी सटीक बात कही है । वकील ही क्या ! सारा जगत् ही दूध में पानी मिलाने में लगा है । सत्यता को बड़ी खूबी से छुपा लिया जाता है । चोर, ठग तथा धोखेबाज को महात्मा दिखाया जाता है । महात्मा को धोखेबाज सिद्ध कर दिया जाता है । घर में खाने को नहीं हो, बाल-बाल कर्ज में डूबा हो तो भी अपने को बाहर धनवान दिखाया जाता है । आज आडम्बर का युग है भीख माँगने वालों के घर में कोई कमी नहीं होगी, किन्तु ऐसे दीन, दुखी तथा अभावग्रस्त दिखने का अभिनय करेंगे कि आपको तरस आ जाएगा । सत्यता को खोज पाना बहुत कठिन हो गया है ।"

मैंने कहा, "माया तो ठगनी है । जो माया से जितना अधिक प्रभावित होगा, उतनी अधिक ठगी करेगा ।"महाराज श्री बोले, "ठीक कहा तुमने । माया का काम ही यही है । जो नहीं हो, उसे दिखला दे । जो असीम हो उसे सीमित कर दे । दिन रात नहीं हो, उन्हें करके दिखा दे । सर्वव्यापक को भी ढक दे। दुख में सुख की कल्पना करवा दे । माया दूध में पानी मिलाने में अत्यन्त सिद्धहस्त है । पर क्या किया जाए ! आज कलियुग है । माया तीव्र गति से वेगवान होकर, चारों दिशाओं में विचर रही है । उसने प्रत्येक जीव के मन को अपने वश में कर रखा है । जैसे उसे दिखाती है, वैसा ही देखने में वह विवश है । संसारी तो ठीक, उसने साधु संतों को भी नहीं छोड़ा । वह भी लोकेषणा, राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि में डूब रहे हैं । भौतिक सुखों (जिसमें सुख का छलावा मात्र है) के ही पीछे पड़े हैं । यदि कोई किसी को माया के गर्त में से निकालने का प्रयत्न भी करे तो कोई निकलने को तैयार नहीं । उलटे निकालने का प्रयत्न करने वाले को ही गर्त में खींच लेना चाहते हैं । तब जगत् को माया के गर्त से निकालने का प्रयत्न करने वाले ही भाग खड़े होते हैं । गुफाओं में, कंदराओं में, कहीं एकान्त में आश्रय लेते हैं । कैसी विडम्बना है ।"

मैंने पूछा, "महाराज जी, माया से बचने का कोई उपाय तो अवश्य होगा!" बोले, "आज के सामान्य जन की मानसिक अवस्था देखते हुए तो ऐसा प्रतीत होता है कि इससे बचने का संप्रति कोई उपाय नहीं है । उपाय यदि है भी तो कोई करने के लिए तैयार नहीं । यदि कोई उपाय करते भी हैं तो पथ्य-कुपथ्य का ध्यान नहीं रखते । औषधि के साथ परहेज भी तो आवश्यक

है तभी औषधि प्रभाव दिखा पाती है । साधना के साथ-साथ जब तक संयम न हो, साधना उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाती ।''

फिर कहा, ''नदी के वेगवान प्रवाह में जो फँस जाता है, वह चाहते, न चाहते, प्रवाह के साथ प्रवाहित होने पर विवश है । कलियुग में सभी जीव माया के चंगुल में हैं । जैसे माया नचाती है, कुछ तो नाचना ही पड़ता है । प्रवाह में बहते तथा नाचते हुए भी वही जीव बच पाता है जिसने भगवान का पल्ला पकड़ रखा है । साधना किनारे की ओर संकेत करती रहती है । इससे जीव को अपने लक्ष्य का स्मरण बना रहता है तथा कभी न कभी वह किनारे लग ही जाता है ।''

मैंने कहा, ''सामान्य तो क्या, बड़ों-बड़ों का इस स्थिति से निकल पाना कठिन है ।'' बोले, ''कठिन तो है ही । साधन करो तो साधन का अभिमान पागल बना देता है । अभिमान माया का ही कार्य है, जिसके पीछे-पीछे अन्य सभी विकार चले आते हैं, काम, क्रोध, मद, ईर्ष्या, सभी । प्रेम कार्य, माया का अहंकार ही है । अन्य सभी विकार अभिमान (अहंकार) को पुष्ट करते रहते हैं तथा अभिमान अन्य विकारों को। भगवान की कृपा ही जीव को बचः सकती है पर भगवान ने तो स्वयं ही माया की रचना की है । वह भगवान के अधीन है । उसी की प्रेरणा से कार्यशील होती है । भगवान के एक ओर माया है, दूसरी ओर कृपा । यह जीव पर आधारित है कि वह दोनों में से क्या चाहता है । यदि कृपा चाहिए तो माया छोड़ना होगी । जिस पर प्रभु कृपा करते हैं, उसके समक्ष, अपने तथा जीव के बीच पड़ी माया को हटा लेते हैं । सभी साधनाएँ कृपा पर जाकर समाप्त हो जाती हैं । यदि कृपा नहीं तो जीव अभिमान में फूला फिरता है । साधना से केवल सद्गुणों की ही अभिवृद्धि हो सकती है, किन्तु त्रिगुणों की स्थिति परिवर्तनशील है । पुनः तम रज बढ़ जाते हैं । जीव फिर गिर जाता है । जब तक माया मार्ग नहीं देती, जीव पार नहीं जा सकता । माया का हटना भगवान के ही अधीन है ।

आश्रम में साँप बहुत घूमते थे । अब तो चारों ओर दीवार है । नीचे की ओर बहुत सारे मकान बन चुके हैं । एक ओर झोपड़-पट्टी रूपी एक बड़ी कालोनी खड़ी हो गई है, किन्तु उस समय दूर-दूर तक, आश्रम के पास कोई रिहायश नहीं थी, न ही किसी ओर दीवार ही थी । नाग पंचमी के पश्चात् सँपेरे, साँपों को टेकड़ी पर छोड़ जाया करते थे, जिससे टेकड़ी पर बहुत साँप हो गये थे । आश्रम पर कई प्रकार-आकार के साँप दिखाई देते थे । एक साँप तो कोई

आठ फीट के लगभग लम्बा था। एक दिन मैं खुले में कपड़े धो रहा था तो एकदम मेरे पास से ही निकल गया । उस समय मैं बहुत डर गया था । शरीर के प्रति आसक्ति जो बची थी । कोबरा साँप संभवत: आश्रम के कहीं आस-पास ही रहते थे इसलिए प्राय: आश्रम पर आते रहते थे। साँप कभी रसोईघर में घुस जाते तो कभी मंदिर में । मैं रसोईघर में ही रात को सोता था, जहाँ चूहे बहुत थे । छत कवेलू की थी जिसमें रात को चूहे भाग दौड़ करते थे। जब चूहे हैं तो उन्हें खाने के लिए साँप भी आएँगे ही । रात भर छत में चूहों तथा साँपों की दौड़-पकड़ होती रहती थी ।

मैंने एक दिन महाराजश्री से कहा, "आश्रम में माताएँ-बच्चे सभी आते हैं । कई साधक प्रात: काल अँधेरे में ही साधन करने आते हैं, साँपों का होना बड़े डर की बात है" महाराजश्री ने कहा, "बच्चे आते हैं तो क्या हुआ? हमारे तथा साँपों के बीच एक मूक समझौता है । न तुम हमें कुछ कहो, न हम तुम्हें कुछ कहेंगे । इतने साँप घूमते रहते हैं आज तक हम ने एक साँप भी नहीं मारा, न ही साँपों ने हमें कभी परेशान किया है ।"

मैंने कहा, "वे मेंढक तथा चूहे तो खाते हैं । उनको खाते देखकर अच्छा नहीं लगता ।" बोले, "अरे भई, जंगल में जाकर देखो, कौन-कौन जानवर किस किस को खा रहा है । समुद्र की गहराइयों में झाँक कर देखो कि बड़ी मछलियाँ कितनी छोटी मछलियों को खा रही हैं । घरों में छिपकलियाँ कितने कीड़े खाती हैं । जीव का भोजन जीव है । प्रकृति के नियम को कौन तोड़ सकता है ।"

मैंने कहा, "फिर अहिंसा के नियम का क्यों विधान किया गया है?" बोले, "इस नियम का विधान मनुष्यों के लिए है, पशुओं के लिए नहीं । पशु कोई साधना नहीं करते । वे केवल भोग करते हैं. हिंसा करना पशुत्त्व है, मनुष्यत्त्व नहीं । जो मनुष्य कायिक, वाचिक अथवा मानसिक हिंसा करता है । वह पशु वृत्ति अपना कर ही ऐसा करता है । साधक के लिये अहिंसक होना आवश्यक है ।"

मैं सोच में पड़ गया कि हिंसा से बच पाना कहाँ तक संभव है । हम चलते हैं तो जाने कितने जीव पाँव तले कुचलते जाते हैं । पानी पीते हैं तो न जाने कितने जीव पेट में चले जाते हैं । अभी अमेरिका में एक वैज्ञानिक ने परीक्षण किया है कि शरीर के अन्दर तो जीव हैं ही, बाहर भी हर अंग में अनेकानेक जीव चिपटे हुए हैं। मुँह पर हाथ फेरो, स्नान करो, वस्त्र बदलो तो अनेक जीवों की हत्या हो जाती है । मैंने कहा, "क्या मनुष्य के लिए जीव-

हत्या से बच पाना संभव है? खाते-पीते अन्जाने में ही क्या उससे, असंख्य जीवों की हत्या नहीं हो जाती है?''

महाराजश्री ने कहा, ''बात हिंसा की नहीं, हिंसा वृत्ति की है । लोग कर्म को ही देखते हैं, उसके पीछे के भाव को नहीं । जब कि भाव कर्म के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करता है । यह ठीक है कि हम अन्जाने में न जाने कितनी हत्याएँ कर जाते हैं, किन्तु मन में हिंसा वृत्ति नहीं होती । केवल प्रकृति के नियमों के अनुसार ही जीवन चल रहा है । अधिकांश जीवों को भगवान ने बनाया ही अन्य जीवों का पेट भरने के लिये है । समुद्र की बड़ी मछलियाँ क्या भोजन की खोज में पृथ्वी पर आएँगी? शेर क्या घास खाकर पेट भरेगा ? जो जीव इस प्रकार मारे जाते हैं वह प्रकृति चक्र के अनुसार अनिवार्य है । साँस लेना ही पड़ती है, अन्न जल ग्रहण करना पड़ता है, कहीं आना-जाना भी पड़ता ही है, उसमें होने वाली जीव-हत्या से बचने के लिए आत्महत्या नहीं की जा सकती । जो अनिवार्यतः होने वाला है, वह होगा ही । भगवान ने मनुष्य का शरीर तथा इंद्रियाँ मांसाहार के लिए उपयुक्त नहीं बनाई हैं । जिन पशुओं को मांसाहार की अनुमति है उनके दांतों तथा आँतों की बनावट ही वैसी है । वे कच्चा मांस खाकर पचा सकते हैं, पक्षियों की चोंच भी उसी प्रकार की हैं।

''मनुष्य जन्म मांसाहार के लिए नहीं, मोक्ष प्राप्ति के लिए है, किन्तु मनुष्य अपना मार्ग भटक गया है, जीभ के चस्के में लग गया है, अपने अन्तर में हिंसा वृत्ति अपना बैठा है । वह समझे बैठा है कि केवल मांसाहार से शारीरिक बल प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा अहिंसा का मार्ग अपनाकर, साधना के द्वारा चित्त को निर्मल बनाकर, अध्यात्म लाभ प्राप्त कर सकता है । यह सुअवसर साँपों को प्राप्त नहीं है, उन्हें चूहों, मेढ़कों से पेट भरने का ही अवसर मिला है ।''

मैंने कहा, ''किन्तु महाराजश्री, साँपों को देवता मानकर उनकी पूजा करने का विधान किस आधार पर किया गया है?'' महाराजश्री ने कहा, ''आज चाहे इन पूजाओं का स्वरूप विकृत हो गया है किन्तु इनका आरंभ शुद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर किया गया था । ईश्वरीय शक्ति की सर्वव्यापकता प्रदर्शित करने के लिए कुछ पशुओं, पक्षियों, मछलियों, सर्पों, पर्वतों, नदियों, वृक्षों तथा जल, अग्नि इत्यादि की पूजा का विधान हुआ । बाद में तो प्रतिमाएँ बनने लगीं तथा उनमें प्राण प्रतिष्ठा होने लगी, किन्तु उस से पहले लोग उनकी पूजा करते थे, जिनमें प्राण पहिले से ही प्रतिष्ठित हैं ।

महाराजश्री ने एक दिन अपने सत्संग में कहा, "केवल शास्त्रीय ज्ञान मोक्ष नहीं दिलवा सकता, वरन् अभिमान का कारण बन जाने की अधिक संभावना होती है। जब तक आन्तरिक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, भ्रम का नाश नहीं होता। इसके लिए मन की निर्मलता एवं साधन आवश्यक हैं ।"

दूसरे दिन प्रात: मैंने निवेदन किया कि प्रवचनकार गादी पर बैठकर ब्रह्म का विवेचन करते हैं, उनमें से ब्रह्म का साक्षात्कार किसी ने किया हो, मुझे तो शंका है। फिर तो यह अनधिकार चेष्टा ही कही जाएगी !"

महाराजश्री ने कहा, "देखो हमारी भी वेदान्त में आस्था है । आदि शंकराचार्य को भी श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखते हैं । यदि कभी कुछ वेदान्त विषयक बोलना पड़े तो जैसा कैसा बोल भी लेते हैं, किन्तु इतने से ही कोई वेदान्त का अधिकारी तथा व्याख्याता नहीं बन जाता । वेदान्त का अधिकारी बनने के लिए इन्द्रिय-निग्रह, मनोनिग्रह, जगत् से विवेकयुक्त वैराग्य, संशय रहित स्थिति, मोक्ष की जिज्ञासा तथा सहनशीलता की आवश्यकता है । इसके बिना पृथ्वी पर खड़े होकर, चाँद को छूने का प्रयत्न करने के समान है। इसके सभी लक्षण साधन के बिना संभव नहीं । क्या केवल बातों से मन निर्मल हो सकता है? सभी प्रवचनकारों के संबंध में तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु हाँ, अधिकांशत: वेदान्त पर बोलने के लिए अनधिकारी ही होते हैं ।"

"किन्तु वेदान्त की भी एक साधन प्रणाली है, फिर वेदान्त पर बोलने में क्या आपत्ति हो सकती है" मैंने पूछा । इस पर महाराजश्री बोले, "यदि साधना-पद्धति पर बोले तब कोई आपत्ति नहीं, किन्तु साधन-पक्ष का स्पर्श भी नहीं करते, सिद्धान्त पर बोलते हुए ब्रह्म का ही विश्लेषण करते रहते हैं तथा जीव को ब्रह्म सिद्ध करने का ही प्रयत्न करते हैं । मायासक्त जीवों में यह भ्रम घर कर जाए तो कितना अनर्थ हो सकता है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है । वेदान्त के साधन पक्ष पर विचार किया जाए तो एक बात उभर कर सामने आएगी कि जीव अभी द्वैत में ही है। द्वैत से उसे अद्वैत में जाना है । जब तक अन्तर में भ्रम है तब तक काहे का अद्वैत । दूसरी बात गंभीर चिन्तन के पश्चात यह निकलेगी कि वेदान्त साधन पद्धति में भी भक्ति अथवा योग के अतिरिक्त कुछ नहीं । सभी साधनाएँ वेदान्त के अधिकार प्राप्ति के लिए ही हैं।"

मैंने पूछा कि "शास्त्र ज्ञान तथा विचार से कुछ तो लाभ होता ही होगा !" बोले, "लाभ अवश्य है, ज्ञान के संस्कार संचय होते हैं, यदि अभिमान नहीं हो तो । नहीं तो ज्ञान से अधिक अभिमान के संस्कार संचय हो जाते हैं । यदि शास्त्र ज्ञान के संस्कार ही संचय करते रहे तो पूर्व संचित त्रिगुणात्मक संस्कारों का क्या होगा । उनके क्षय के लिए भक्ति तथा योग, और प्रारब्धक्षय के लिए

सहनशीलतापूर्वक कर्मयोग की आवश्यकता है । शास्त्र ज्ञान तथा विचार से संचित संस्कार भी आगे चल कर, कभी न कभी क्षीण करना ही पड़ेंगे । तभी अन्तर का ज्ञान उदय हो सकेगा ।''

फिर कहा, ''मनुष्य में जल्दी से जल्दी अपनी साधना का फल प्राप्त कर लेने की वृत्ति उत्पन्न हो गई है इसलिए वह एकदम उछलकर वेदान्त पर पहुँच जाना चाहता है, एकदम ब्रह्म बन जाना चाहता है । इसीलिए वह अपरिपक्व निवृत्ति को भी ओढ़ लेने का प्रयत्न करता है, किन्तु यह वृत्ति साधना में उत्थान के लिए बड़ी घातक है। अति उत्साह में यदि धैर्य को भुला दिया जाए तो उत्साह के एकदम ठण्डा हो जाने की संभावना ही अधिक है ।

''वेदान्त में अधिकार के लिए चित्त में मुमुक्षुत्व का होना अनिवार्य है । मुमुक्षुत्व के लिए इन्द्रिय निग्रह, मनोनिग्रह, विषयों के प्रति रति के भाव का अभाव, मन का संशय रहित होना तथा तितिक्षा (सहनशीलता) होना आवश्यक है । इन सबके लिये सर्वप्रथम विवेकयुक्त वैराग्य होना चाहिए । इन स्थितियों को प्राप्त करने के लिए सतत् योग, भक्ति तथा सेवा-कर्म की भी आवश्यकता है । तभी जाकर, वेदान्त का अधिकार प्राप्त हो सकता है जिसके लिए मन में धैर्य अनिवार्य है । शक्ति जाग्रति के पश्चात् साधक को सरलता हो जाती है । एक, तो कर्तृत्त्वाभिमान के स्थान पर द्रष्टाभाव उदय हो जाता है । दूसरे, संचित संस्कार शीघ्रतापूर्वक निकलने लगते हैं तथा क्रियाओं के माध्यम से क्षीण होते जाते हैं । तीसरे, चैतन्य के संबंध में साधक ने केवल सुना-पढ़ा ही है, अब चैतन्य की क्रिया, उसके अन्तर में प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है तथा उसे चैतन्य के रूप में सशक्त अवलम्बन मिल जाता है । यह सब मिलकर मार्ग को बहुत सरल बना देते हैं ।''

महाराजश्री एक दिन कह रहे थे, ''सदा से ही हमारी वृत्ति साधनमुख रही है। जब भी हम कहीं कुछ दिन के लिए ठहरते थे कि जप या अनुष्ठान का अवश्य सहारा ले लेते थे या कुछ अध्ययन का कार्यक्रम बना लेते थे । इससे एक तो समय अच्छा कट जाता था, दूसरे मन को फालतू के उपद्रव करने का अवसर नहीं मिलता था । हमें यह बात भलीभाँति समझ में आ गई थी कि केवल रेल्वे टाईम टेबल का पाठ या अध्ययन कर लेने से ही, किसी की भारत यात्रा नहीं हो जाती । उसके लिए प्रवास के कष्ट सहन करने पड़ते हैं । केवल लिखने पढ़ने से ही, कोई भगवान को प्राप्त नहीं कर सकता । यह प्रयत्न जानकारी प्राप्त करने के लिए, शंका समाधान के लिए तथा उत्साह पैदा करने के लिए अच्छा है, अन्यथा साधना, भावना, सेवा तथा समर्पण करना ही पड़ता है । जब हम १९३४ में पहली बार उत्तराखण्ड की यात्रा पर गए थे, तो प्रतिदिन

प्रात: दो तीन घण्टे जप-ध्यान आदि करके ही यात्रा आरंभ करतें थे । चलते समय भी जप चलता ही रहता था । रात को सोने से पहले भी कुछ ध्यान करते थे । जब हमारी दीक्षा हो गई, तो हमारी साधना का स्वरूप बदल गया । प्रयत्न का स्थान समर्पण ने ले लिया । तब हमने ऋषिकेश में एक आश्रम में कमरा ले लिया तथा साधन में जुट गए । पहले की हुई साधना का ही परिणाम था कि वहाँ हमें अभूतपूर्व अनुभूतियाँ हुईं ।''

इस पर एक भक्त ने कहा, ''महाराज जी, आप संन्यासी हैं, इससे पूर्व भी विरक्त थे । आप जैसा चाहें, साधन कर सकते हैं । आप पर कोई सांसारिक उत्तरदायित्त्व नहीं, समय की कोई कमी नहीं, किसी से कुछ लेना-देना नहीं । आप यह सब कर सकते हैं, किन्तु हम सांसारिक अनेक उत्तरदायित्त्वों तथा पल-पल पर विवशताओं में घिरे हैं, हम यह सब कैसे कर सकते हैं?''

मैं भी बोल उठा, ''मेरे पास आश्रम का बहुत काम है । सायंकाल जब सब लोग गुफा में बैठते हैं । मैं काम में जुटा होता हूँ । काम सिर पर हो तथा मैं साधन करूँ, यह भी अच्छा नहीं लगता ।''

महाराजश्री ने कहा, ''देखो, यदि संन्यास ही साधन में उन्नति के लिए आवश्यक है तो सभी संन्यासी सिद्ध हो जाते, किन्तु ऐसा नहीं है । मैं कई संन्यासियों को जानता हूँ जो साधन के नाम पर शून्य हैं ।

साधन संन्यास पर नहीं चित्त की अवस्था पर आधारित है । यह भी याद रखो कि अधिकांश भक्त या महापुरुष गृहस्थ ही हो गए हैं । उनके भी उत्तरदायित्त्व एवं विवशताएँ थीं, किन्तु उन्होंने उसे साधन में बाधक नहीं बनने दिया । हम गृहस्थ हैं, हमारे पास समय नहीं, उत्तरदायित्त्व है, यह सब बहानेबाजी है । आप कितना समय निरर्थक बिगाड़ते हैं, इस पर भी विचार करो । काम करने के साथ-साथ आप क्या कर सकते हैं, यह भी सोचो । व्यवहार को किस प्रकार अध्यात्म का रूप दे सकते हैं, इस पर भी चिन्तन करो। केवल विवशता का रोना रो कर जान मत छुड़ाओ ।''

फिर मेरी ओर घूमकर कहने लगे, ''कर्म कभी अध्यात्म में बाधक नहीं बनता। वह अध्यात्म का पूरक है, सहायक है, किन्तु यदि उसे सही ढंग से किया जाए तो। जीव के मन के रजोगुण के प्रभाव का शमन कर्म से होता है । कर्म ही प्रारब्धक्षय का कारण है । कर्त्तव्य कर्म करते-करते ही निवृत्ति उदय होती है। कर्म भी साधन ही है। कर्म यदि आसक्तियुक्त किया जाए तभी बंधनकारक होता हैं, इसलिए आश्रम के काम में सेवा का भाव रखो, बदले में कुछ आशा मत रखो, आदर की, प्रशंसा की, या किसी विशेष सुविधा की । अभी तुम कर्मयोग प्रधान चल रहे हो, कभी साधन-प्रधान होने का अवसर भी आ जाएगा।''

मैं मौन धारण किए सुनता जा रहा था । "साधक के लिए साधक वृत्ति आवश्यक है । यदि साधक वृत्ति हो तो बोलना, चालना, व्यवहार करना सभी साधन हो जाता है । साधक के जीवन का रंग ही कुछ दूसरा होता है । कई लोग घण्टों साधन करते हैं फिर भी उनकी गणना साधकों में नहीं की जा सकती, क्योंकि साधक वृत्ति नहीं है । यदि साधक वृत्ति अपनाकर कर्म किया जाए तो वह साधन ही है ।"

महाराजश्री न केवल साधनरत रहते थे अपितु साधन वृत्ति भी अपनाकर रखते थे । उन्होंने मन की लगाम कभी ढीली नहीं होने दी । सदैव मन पर सवार रहे । मन पर कड़ी निगरानी रखी । उसकी एक-एक उछल-कूद पर नियंत्रण किया । विकारों से युद्ध करके उच्च आध्यात्मिक भूमिका प्राप्त की । तभी तो उनका जीवन क्रियाशक्ति की क्रिया रूप विकसित हो सका । उनमें अहम् नाम को भी नहीं था, छोटे शिशु की भाँति ।

मैं सोचता जा रहा था, "मेरा अन्तर कितना मलिन है । विकारों के मन में ढेर लगे हैं । चित्त का कोना-कोना वासनाओं से भरा है । अँधेरे के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता । क्या होगा मेरा, क्या मेरा जीवन भी कभी महाराजश्री जैसा बन पाएगा ? क्या मैं भी विवशताओं से मुक्त हो सकूँगा?"

घूमने जाते समय, बाहर से आए हुए कुछ भक्त भी, आज साथ हो लिए थे । ठंडक आज कुछ अधिक थी । प्राय: सभी के शरीरों पर शाल थे, पर पाँवों में कुछ ज्यादा ही ठण्डक अनुभव हो रही थी । रेल्वे स्टेशन तक आने-जाने में दो किलोमीटर का घूमना हो जाता था । आज चमत्कारों का विषय विचाराधीन था । क्योंकि कुछ लोगों ने किसी बात को चमत्कार मानकर महाराजश्री के साथ संबंधित कर दिया था।

महाराजश्री कह रहे थे, "चमत्कार होते हैं, मैं इस बात से इन्कार नहीं करता, कर भी कैसे सकता हूँ? जब कि योग दर्शन में इतने विस्तार से सिद्धियों का वर्णन है, किन्तु इसके साथ ही, वहाँ पर इसे असम्प्रज्ञात की प्राप्ति में प्रतिबंधक भी बताया गया है । एक बात तो स्पष्ट है कि सिद्धियाँ चित्त की कार्यशील अवस्था में ही घटित होती हैं । असम्प्रज्ञात में सभी सिद्धियाँ विलीन हो जाती हैं, अर्थात सभी सिद्धियाँ भौतिक ही हैं । चमत्कारों के लिए भौतिक जगत् के आधार की आवश्यकता होती है। असम्प्रज्ञात में भौतिक जगत् विलीन हो जाता है । तब चमत्कार दिखाने के लिये कोई आधार ही उपलब्ध नहीं होता। जगत् में कुछ भी कर दिखाने के लिए चित्त का कार्यशील होना भी

आवश्यक है । असम्प्रज्ञात में ये दोनों बातें नहीं रहती । यदि मनुष्य इनके प्रति आसक्त हो जाए, इनका अभिमान करने लगे, इनके द्वारा प्रतिष्ठा या वैभव प्राप्त करने में लग जाए, जिसकी संभावना अधिक है, तो वह असम्प्रज्ञात में नहीं जा सकता । इसलिए इन्हें प्रतिबंधक कहा गया है ।

"साधन की अन्तर यात्रा में दो स्थल ऐसे हैं जिन्हें पार करना बहुत कठिन है । एक तो दृश्य जगत् से वृत्ति हटाकर अन्तर्मुखी करना तथा दूसरा, जड़ -चेतन की ग्रन्थि का भेदन, अर्थात् सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात में जाना । इस दूसरे स्थल को पार करने में, अन्य बातों के अतिरिक्त सिद्धियाँ भी मार्ग रोककर खड़ी रहती हैं, इसलिए बुद्धिमान साधक को कभी सिद्धियों के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए । यही अवस्था वैराग्य से पर वैराग्य में जाने की है, जहाँ पर जड़-चेतन के भिन्नत्व के ज्ञान के प्रति भी वैराग्य हो जाता है । इस अवस्था में परवैराग्य का अभ्यास ही साधन है ।

"पहले सन्तों-महापुरुषों की जीवनी लिखने की कोई परिपाटी नहीं थी । उनके श्रद्धालुओं, भक्तों में उनके बारे में कई प्रकार के चमत्कार प्रसिद्ध हो जाया करते थे, जो कि प्रायः भक्तों की भावना मात्र होते थे । इन्हीं किंवदंतियों के आधार पर उस संत विशेष का जीवन-चरित्र लिखा जाता था । भक्त लोग उन चमत्कारों पर पूर्ण विश्वास करते थे । इससे उनमें श्रद्धा तथा विश्वास की अभिवृद्धि भी होती थी । इस प्रकार संतों में चमत्कार दिखाने की एक होड़ सी लग गई । यह बात गौण हो गई कि क़िस संत ने कैसे मानसिक विकास किया, कैसे कठिनाइयों को सहन किया तथा उन पर काबू पाया । उसकी साधना का क्रम क्या रहा । कैसे आन्तरिक विकारों का सामना किया तथा कैसे सामान्य अवस्था से ऊपर उठकर उच्च अवस्था प्राप्त की । यदि ये सब बातें लोगों के सामने आएँ, तथा वे उन पर कुछ विचार करें तो उनका कुछ लाभ भी हो सकता है, किन्तु भक्त-गण संतों के केवल चमत्कारों का गुण-गान कर संतुष्ट हो जाते हैं । उन्हें यह याद ही नहीं रहता कि अमुक संत भी पहले उन्हीं की भाँति मानसिक विकारों से ग्रसित थे । कैसे चल कर वे इतने ऊँचे उठे? यदि वे इतनी उन्नति कर सकते हैं तो उस मार्ग पर चलकर हम क्यों नहीं कर सकते? पर यह सब नहीं होता । इसीलिए भारत में या तो बहुत ऊंचे संत हैं या वासनाओं में जकड़ी सामान्य जनता । दोनों की बीच की कड़ी छूटी हुई है।

"जैसा कि मैंने कहा कि आत्म स्थिति में कोई चमत्कार या सिद्धि नहीं होती। सिद्धियाँ समाधि से पूर्व अवस्था में होती हैं । जो भी सिद्धियों के प्रदर्शन में उलझ जाता है वह असम्प्रज्ञात समाधि में नहीं जा पाता । इसलिए साधक को सिद्धियों का प्रयोग नहीं करने की बात योग-दर्शन कहता है । जिन्हें आत्म

स्थिति प्राप्त है वे भी चित्त से युक्त हो कर ही चमत्कार दिखा सकते हैं, किन्तु इससे उनके मन में आसक्ति या अभिमान के संस्कार संचय नहीं होते । सिद्धियाँ प्राप्त मनुष्य को सिद्ध पुरुष कहा जाता है, किन्तु वास्तविक सिद्ध पुरुष वही है जिसे आत्म-स्थिति सिद्धि प्राप्त हो अर्थात् आत्म-स्थिति ही वास्तविक सिद्धि है । ऐसे सिद्ध पुरुष भगवान के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते, प्रकृति के नियमों के विपरीत नहीं जाते यदि कभी जाते भी हैं तो भगवद् संकेत से ही । आत्मस्थिति विहीन, किन्तु सिद्धियाँ प्राप्त मनुष्य, यदि सिद्धियों का उपयोग करता है तो भगवद्कार्यों तथा निर्णयों में हस्तक्षेप करता है । वह इसे जन-कल्याण का नाम देता है, किन्तु अन्तर में अहंकार को पुष्ट करता जाता है । परिणामत: एक दिन ऐसा आता है जब न उसकी सिद्धियाँ ही रहती हैं, न जन-कल्याण की भावना ही । उसका पतन हो जाता है ।

"जगत् प्राय: चमत्कार को नमस्कार करता है, किन्तु नमस्कार करने वाले अध्यात्म को नहीं समझते हैं, जगदाभिमुख होते हैं तथा चमत्कार दिखाने वाले भी । पतनोन्मुख सिद्धियों के लिए साधन करना, समय नष्ट करना तथा अपनी वृत्ति को बिगाड़ना है । भगवद्भक्तों ने भगवान से कभी कोई सिद्धि नहीं माँगी न कभी उसका प्रदर्शन किया । वे सदा प्रभु-प्रेम में ही तल्लीन रहे । यदि कभी कोई चमत्कार हुआ भी तो भगवान की ओर से ही, भक्त की ओर से नहीं । वे अभाव का कष्ट सहन करते रहे, अपमान तथा अपयश का बोझ ढोते रहे, किन्तु भगवान से किसी भी सिद्धि की याचना नहीं की, कि आततायियों को दण्ड दे सकें । वे किसी को अपना शत्रु या विरोधी मानते ही नहीं थे । जगत की दृष्टि से, सबसे बड़ी सिद्धि समताभाव है । बाकी सभी सिद्धियाँ आती हैं, जाती हैं। उनके लिए प्रयत्न क्या करना?"

धन्य हैं गुरु महाराज जिन्होंने ऐसी समझ प्रदान की । जगत् में शुद्ध अध्यात्म की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है । जीव को मार्ग भटकते देर नहीं लगती। वह भगवान के मार्ग पर चलना आरंभ करता है, किन्तु फलों में उलझ कर रह जाता है । अष्ट सिद्धियों को बड़ी उपलब्धि मानता है । कितनी कठिन चढ़ाई है, कैसी फिसलन है, कितना अंधकार है, जीव समझ ही नहीं पाता । उसे तभी पता चलता है जब पाँव लड़खड़ाते और वह गहरी खाई में जा गिरता है, अकेला असहाय, अशक्त । बेचारे जीव को भगवान ही सँभालें या गुरुदेव बचाएँ तभी उसका कल्याण हो सकता है । ऐसे गुरुदेव की जन्म-जन्मान्तर सेवा की जाए, तो भी उऋण नहीं हुआ जा सकता ।

आज की चर्चा का विषय राजनीति था । दो तीन सज्जन भी आज साथ हो लिए थे । उनमें से एक ने बात आरंभ की, ''महाराज जी, आप भी कभी राजनीति में रहे हैं । गाँधीजी तथा आज के नेताओं में कितना अन्तर है !'' महाराजश्री ने कहा, ''महात्मा गाँधी से दो बार मेरी भेंट हुई । उनकी सादगी अनुकरणीय थी । इतना बड़ा नेता और कोई अकड़ नहीं । वह युग ऐसे ही नेताओं का था जिनमें सादगी तथा देशप्रेम कूट-कूट कर भरा था । लाला लाजपतराय, तिलक जी, गोखले जी, सब एक से बढ़कर एक । ईश्वर से डरने वाले, धर्म पर चलने वाले, कोई छल कपट नहीं । पर उन सादगी पसंद तथा निस्वार्थ नेताओं से निचले स्तर पर वही स्वार्थ, टाँग खिंचाई, छीना झपटी तथा उखाड़-पछाड़ चलती थी । मेरा संबंध निचले स्तर पर अधिक था । मैं प्रादेशिक स्तर का कार्यकर्ता था, फिर अध्यात्म में भी कुछ रुचि रखता था । आध्यात्मिक तथा आधुनिक राजनीति में मेल वैसे भी असंभव है । मैं इतना उकता गया था, कि मैंने राजनीति से हाथ जोड़ लिए । मैंने भले ही राजनीति से नाता तोड़ लिया पर राजनीति ने मुझे नहीं छोड़ा । लोग बार-बार आकर तंग करते । मैंने गुरुजी से बात की तो उन्होंने मुझे दूर चले जाने को कहा । मैं देवास आ गया ।''

एक सज्जन ने कहा, ''राजनीति इतनी बिगड़ गई है कि बड़े-बड़े ईमानदारों को भी स्वार्थी बना देती हैं । जो भी इस अखाड़े में उतरता है इसी के रंग में रँगा जाता है ।'' महाराजश्री बोले, ''अरे भाई, राजनीति को ही क्यों दोष देते हो, आज कौन सा ऐसा क्षेत्र बचा है जिसमें स्वार्थ नहीं हो ! व्यापार, उद्योग, कला, साहित्य, शिक्षण सभी जगह तो स्वार्थ घुसा है । हर परिवार, संस्था तथा कार्यालय में स्वार्थ का बोलबाला है । स्वार्थ है तो दाव-पेंच भी चलते ही हैं । सब ओर यही देखने को मिलता है । यह कहो कि मनुष्य में स्वार्थ आ गया है । इसलिए उसने सभी ओर बिगाड़ कर रख दिया है ।''

दूसरे सज्जन बोले, ''महात्मा गाँधी ने राम-राज्य का लक्ष्य देश के सामने रखा था, उसका भी क्या हुआ, महाराजश्री ने कहा, ''महात्मा गाँधी का उद्देश्य तो एकदम अच्छा था पर देश उसको समझ नहीं पाया । कुछ लोगों ने इसे साम्प्रदायिक रूप दे दिया क्योंकि इस में राम का नाम आता था । वे समझ नहीं पाए कि परमात्मा के अनेक नामों में से राम भी एक नाम है । राम राज्य के भाव को नहीं लेकर, शब्दों के फेरे में पड़ गए । लोगों ने राम राज्य का यह अर्थ लगाया कि सब लोगों के पास खाने को अच्छा भोजन तथा रहने के लिए सुन्दर सुविधाजनक घर होगा, बैंक में पैसा, टी.वी., फर्नीचर, फ्रिज होगा, काम किसी को करना नहीं पड़ेगा, जीवन भौतिक सुखों से भरपूर होगा । किन्तु

गाँधीजी का राम राज्य बाहर देश में नहीं, मन के अन्दर था। जैसा मन होता है वैसा ही बाहर जगत् प्रकट होता है। वह प्रत्येक भारतवासी का चित्त परिवर्तित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम १८ श्लोक नित्य प्रार्थना में सम्मिलित किए थे। संभवत: गाँधीजी यह भूल गए कि इससे पूर्व भी अनेक महापुरुष इस प्रकार के प्रयोग करके असफल रह चुके हैं। किसी एकाध व्यक्ति का चित्त बदला जा सकता है परन्तु पूरे मानव-समाज को सुधार पाना असम्भव है। गाँधीजी की बात यदि लोगों की समझ में नहीं आई तो इसमें लोगों का दोष भी नहीं क्योंकि उनकी चित्तस्थिति ही ऐसी है।

"वैसे देखा जाए तो आज संसार के हर कोने में अशान्ति है। स्वार्थ, अभिमान तथा ईर्ष्या, द्वेष भरा है। जैसा कि मैंने कहा कि हर क्षेत्र में स्वार्थ है, किन्तु राजनीतिकों का स्वार्थ शीघ्र ही दृष्टि में आ जाता है। राजनीतिकों को स्वार्थी कहने वाले अपने अन्दर झाँक कर देखें तो उससे भी कहीं अधिक स्वार्थ दिखेगा। हर पार्टी के कार्यकर्ताओं की आपूर्ति तो एक यही समाज करता है। जैसा समाज होगा वैसी ही पार्टियाँ होंगी तथा वैसी ही सरकार बनेगी। राजनेताओं में जो स्वार्थपरता दिखाई देती है वह समाज की ही देन है।"

एक सज्जन ने कहा, "सभी अधिकारों की बात करते हैं, कर्त्तव्य की बात कोई नहीं करता।" महाराजश्री बोले, "यह स्वार्थ का वीभत्स स्वरूप है। कर्त्तव्य पालन से ही अधिकार स्थापित होता है। कर्त्तव्य नहीं तो अधिकार काहे का? किन्तु यदि पार्टियाँ कर्त्तव्य पालन की बात पर बल दें तो जनता के नाराज हो जाने का भय है, क्योंकि जनता को केवल अधिकार, सुविधाएँ चाहिए। इसलिए सभी पार्टियाँ, मत कबाड़ने के लिए अधिकारों की दुहाई देती हैं, कर्त्तव्य की बात नहीं करतीं। जिस देश की जनता देश, समाज तथा धर्म के प्रति कर्त्तव्य पालन में लापरवाह रहती है वहाँ की सरकार, राजनीतिक दल तथा व्यवस्था कैसे सुधर सकती हैं?"

एक सज्जन ने कहा, "महाराज जी! इस स्थिति को सुधारने का उपाय क्या है?" महाराजश्री ने कहा, "कोई भी नहीं। मनुष्य के पास मानव समाज को सुधारने का कोई उपाय नहीं, किन्तु भगवान की लाठी बे आवाज है। वह कब पड़ेगी, कैसे पड़ेगी तथा क्या करेगी, इसे केवल भगवान ही जानते हैं, पर कभी न कभी पड़ेगी अवश्य, फिर किस देश का क्या होगा? किस की कैसी गति होगी, इसको भी भगवान ही जानते हैं। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा भी है कि जब-जब धर्म की हानि होती है तो मैं आता हूँ। दुष्टों का नाश करता हूँ, धर्म की स्थापना करता हूँ।"

महाराजश्री के सिरहाने, एक छोटे से टेबल पर, पानी का भरा एक ताम्बे का लोटा तथा एक गिलास रखा रहता था । दोपहर में आराम से उठ कर तथा प्रातः काल सो कर उठने के पश्चात महाराजश्री जल ग्रहण करते थे । नित्य प्रति की भाँति मैं ने लोटे को माँज कर, जल भर कर, टेबल पर रखा तो लोटे पर दाग पड़े देखकर, गुरु महाराज ने कहा, "यदि तुम लोटे के दाग दूर नहीं कर सके, तो चित्त की मलिनता कैसे दूर करोगे?" मैं हक्का-बक्का सा मूरत बना, खड़ा रह गया । समझ नहीं आ रही थी कि क्या कहूँ । महाराजश्री ने कितनी बड़ी बात लोटे के माध्यम से कह दी थी ।

महाराजश्री ने ही मौन तोड़कर कहा, "देखो ! बरतन माँजते समय, कपड़े धोते समय या झाड़ू लगाते समय अपने मन पर लक्ष्य रखो, जिस प्रकार लोटे के दाग मिटा रहा हूँ, ऐसे ही मन के दागों को भी दूर करना है । तब लोटा माँजना, केवल लोटा मांजना ही नहीं रह जाएगा, साधन हो जाएगा । यदि जगत् के प्रत्येक व्यवहार को, कर्म को विचारपूर्वक किया जाए तो उसे साधन का रूप दिया जा सकता है । यदि यह सोच लिया जाए कि पानी ही तो भर कर रखना है, दाग छूटे तो क्या, और नहीं छूटे को क्या, तो पानी तो अवश्य भरा जा सकेगा पर दाग रह जाएँगे । यही लापरवाही, तुम्हारे चित्त शुद्धि के मार्ग में व्यवधान बन कर खड़ी हो जाएगी । व्यवहार तथा साधन करते हुए भी मन निर्मल नहीं हो पाएगा ।

"जिस प्रकार बरतन पर पड़े दाग दूर करने के लिए बरतन को घिसना पड़ता है, उसी तरह मन को निर्मल बनाने के लिये मन को भी रगड़ना पड़ता है । यह रगड़े भक्ति अथवा योग के हो सकते हैं, किन्तु वास्तविक रगड़े व्यवहार में लगते हैं । जब रगड़े लगते हैं तो सामान्य व्यक्ति चिल्लाना आरंभ कर देता है । संभव है इस चिल्लाहट से रगड़े लगने बन्द भी हो जाएँ, किन्तु मलिनता रह जाती है । साधक तथा संसारियों में यही अन्तर है । संसारी रगड़े लगने पर चिल्लाता है, किन्तु साधक उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करता है पर मन की घिसाई में व्यवधान नहीं डालता । वह यही चाहता है कि मन मँजता रहे तथा अधिक से अधिक चमक आती रहे । जिस प्रकार दीपक को प्रकाश फैलाने के लिए स्वयं जलना पड़ता है उसी प्रकार साधक भक्त को भी मन निर्मलता के लिए, मन को भक्ति, योग तथा कर्म रूपी अग्नि में तपाना पड़ता है ।

"जिस प्रकार लोटे को यदि, प्रतिदिन माँजते रहे तो लोटा साफ भी बना रहता है तथा श्रम भी कम पड़ता है, वैसे ही प्रतिदिन माँजने का स्वभाव ही सतत् साधन कहा जाता है । मन पर जगत् का प्रभाव पड़ता ही रहता है । जाने अनजाने मलिनता जमती ही रहती है । यदि भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य तथा

पश्चाताप के साबुन या राख से मन को नित्यप्रति शुद्ध किया जाए तो मन भी निर्मल बना रहता है तथा परिश्रम भी अधिक नहीं करना पड़ता। सेवा भाव से सभी कर्मो का अनुष्ठान, आरंभ में विशेष सहायक होता है । तुम शक्तिपात् में दीक्षित हो, आन्तरिक क्रियाओं की तुम्हे अनुभूति है, आज की संचित मलिनता प्रात: काल के साधन में क्षीण होती है । प्रश्न पूर्व संचित तथा प्रारब्ध का है, भविष्य में संचित होने वाले संस्कारों का है । उसी के लिए सारी सावधानी, सतत् साधन, समर्पण भाव तथा सेवा-भाव की आवश्यकता है । यदि द्रष्टाभाव तथा समर्पण बना रहे तो मन को शुद्ध करने का कार्य, शक्ति की क्रियाओं में शीघ्रतापूर्वक होता है । पहले मन पर गहरे दाग पड़ते थे, जो धीरे-धीरे मद्धम होते जाएँगे, किन्तु उनके क्षय कि निरन्तर व्यवस्था रखना पड़ेगी ।

''सारा साधन मल शुद्धि के लिए ही है, माया मल हो, आणव मल हो, अथवा कर्तत्व- भोगत्व मल हो । मल से भाव है चित्त में जमा हो जाने वाली मलिनता । इस मल के दाग चित्त पर दिखाई देने लग जाते हैं, किन्तु धीरे-धीरे जीव यह भी भूल जाता है कि यह मल है। वह मल को अपना स्वभाव मान लेता है, उससे प्रेरित होकर, अनर्थ कर जाता है । जब उसमें साधक वृत्ति उदय होती है, तथा उसे मल का भान होता है तो वह निर्मलता के लिए प्रयत्नशील होता है । आरंभ में उसका प्रयत्न आधा अधूरा होता है । जैसे तुम ने बिना दाग छुड़ाए लोट जल भर कर दिया । धीरे-धीरे गंभीरता तथा सावधानी आने लगती है, तथा निर्मलता प्रकट होने लगती है ।

''मैं तुम्हे हतोत्साहित नहीं, सावधान कर रहा हुँ । अभी तुम्हारे साधन का आरंभ हुआ है। अभी यदि लापरवाही तथा असावधानी का स्वभाव विकसित हो गया, तो उससे निकल पाना कठिन हो जाएगा । सावधानी से ही असावधानी पर काबू पाया जा सकता है । सावधानी से ही साधन ही निरन्तरता बनाई जा सकती है तथा सावधानी से ही अन्तर के दाग समक्ष प्रत्यक्ष होते हैं, अत: जितनी जल्दी तुम चेत जाओ उतना ही तुम्हारा कल्याण है । हर क्षण बीतने के साथ आयु कुछ घट जाती है तथा जीव की असावधानी में ही बीत जाती है । गुरु होने के नाते कर्तव्य समझता हूँ कि तुम्हें सावधान करूँ । नही तो जगत् संसारियों से भरा है। किसको किस की परवाह है ।''

आश्रम के सामने दस बारह फीट गहरा एक नाला था । अब वह भी आश्रम के अन्दर ही आ चुका है तथा उसे भर कर, उसी के ऊपर स्कूल तथा मंगलभवन निर्माण हो चुके हैं । उस समय नाला, नगर तथा आश्रम के बीच होने से उस पर एक पुलिया बना दी गई थी । पुलिया क्या थी, दोनों ओर पत्थर जोड़कर गाड़ी की चेसिस ऊपर रख दी गई थी तु ऊपर एक पतरा ठोक दिया गया था ।

रात को वर्षा काफी हुई थी । टेकड़ी का पानी नाले में आता था, प्रवाह भयंकर था जिसमें पुलिया गिर गई । दोनों तरफ की मिट्टी नीचे खिसक गई थी। प्रात:काल भ्रमण के लिये निकले तो पुलिया गिरी हुई देखी । पुलिया को गिरे हुए देखकर महाराजश्री बड़े जोर से हँसे । मैं महाराजश्री का इस प्रकार जोर से हँसना देखकर सोच में पड़ गया, इस में हँसने की क्या बात है ! नुकसान हुआ तो गंभीर होना चाहिए था । जब उनसे पूछा तो बोले, ''पुलिया गिरना थी सो वह गिर गई । अपने आप उठकर खड़ी होने से रही । हँस कर सहन करो या रो कर, सहन करना ही पड़ेगा। फिर हँसकर क्यों न किया जाए?'' ''किन्तु महाराजश्री, बुरा तो लगता ही है। अब दोनों ओर से इसको पक्का बनवाना पड़ेगा । खर्च होगा ही ।'' मैंने कहा ।

महाराजश्री ने कहा, ''मेरे रो देने से खर्च रुकने वाला नहीं है । हँस के करो या रो के, खर्च करना ही पड़ेगा, फिर हँस के क्यों न किया जाए !'' और महाराजश्री फिर जोर से हँसने लगे । फिर कुछ देर मौन रहने के बाद बोले, ''ऐसे अवसर पर ही चित्त स्थिति का पता लगता है तथा साधक की परीक्षा होती है । जरा सा कुछ काम बिगड़ गया तो चित्त उससे भी अधिक बिगड़ जाता है । कुछ थोड़ा सा भी मन के विपरीत हुआ कि मन उद्विग्न हो उठता है या थोड़ी सी भी किसी के साथ कहा-सुनी हो गई कि मन विचलित हो जाता है । मन के इस विक्षेप से प्राप्त कुछ नहीं होता, केवल संतुलन बिगड़ जाता है। संसारी तथा साधक में यही अन्तर है । साधक हर समय अपनी मनः स्थिति का अवलोकन करता हुआ सावधान रहता है । थोड़ासा भी डाँवाडोल हुआ कि अपने आपको सँभाल लेता है । यही हानि-लाभ में सम बना रहना कहा जाता है ।''

मैंने प्रश्न किया, ''तो क्या इसका यह अर्थ लिया जाये कि यदि कोई काम बिगड़ता है तो बिगड़ जाने दिया जाए, उसके प्रति लापरवाह हो जाया जाए ?'' महाराजश्री बोले, इसका यह अर्थ एकदम ही नहीं निकलता, वह लापरवाही में आ जाएगा । बिगड़े हुए क़ाम को सँवारने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए किन्तु चित्त पर प्रभाव लाए बिना । वह मनुष्य का कर्त्तव्य है तथा कर्त्तव्य का पालन होना ही चाहिए क़िन्तु कर्त्तव्य कर्म के करने तक ही । यह आवश्यक नहीं कि प्रयत्न करने पर काम सुधर ही जाय, इसलिए उसकी चिन्ता भी नहीं करना चाहिए । यदि कोई काम सुधर जाता है तथा परिणाम मनोनुकूल आता है तो अभिमान भी नहीं करना चाहिए । अभिमान भी चित्त पर प्रभाव ही है । इस प्रकार जितना कोई मन को प्रभावित होने से बचाएगा, उतना ही वह संस्कार संचय से बचेगा ।''

मैंने कहा, ''यह चित्त प्रभाव भी क्या राग-द्वेष का ही रूप है ?'' बोले, ''राग-द्वेष तो है ही । अब तुम्हें इस पुलिया से राग हो गया तो इसके जाने पर

चिन्तित हो उठे । जिससे हमें द्वेष होता है, वह हो जाए, या सामने आ जाए तो हम विचलित हो जाते हैं । राग-द्वेष केवल व्यक्तियों से ही नहीं होता अपितु पूजा पद्धति, जीवन शैली, चिन्तन शैली, मान-सम्मान आदि सबसे होता है । हम चाहते हैं कि हमारी ही बात मानी जाए, अथवा अमुक व्यक्ति की बात न मानी जाए, नहीं तो दुखी हो जाते हैं । कुछ कर रहे हैं तो छोड़ने का मन नहीं होता । कुछ नहीं कर रहे तो कुछ करने का मन नहीं होता । यह सभी राग-द्वेष हैं ।''

इस पर मैंने कहा, ''इसका अर्थ यह हुआ कि राग-द्वेष हमारे अन्दर बहुत गहरा बैठा है । हर क्षेत्र तथा हर पल में, हमें नचाता रहता है । कभी प्रसन्नता या अभिमान उदय करके, कभी हृदय को व्यथित कर के ।'' बोले, ''ऐसा ही है । हम जानते ही नहीं कि कब-कब, कहाँ-कहाँ तथा कैसे-कैसे हम राग-द्वेष के हाथों खेल रहे हैं । यदि सच पूछा जाए तो दिन का अधिकांश समय हम राग-द्वेष के प्रभाव में ही व्यतीत करते हैं । इसीलिए तो सुखी-दुखी अथवा सम्मानित, अपमानित अनुभव करते रहते हैं । जैसे लकड़ी को घुन लग जाता है तो अन्दर ही अन्दर उसे खा डालता है । ऐसे ही राग-द्वेष भी हमारे अन्तर को चाटता जा रहा है । जब तक इससे छुटकारा प्राप्त होकर हम स्वाभाविक अवस्था में नहीं आ जाते, तब तक कर्त्तव्य कर्म का अभ्यास ही कर्त्तव्य है ।''

अब याद नहीं कि उन दिनों क्या लिख रहा था । दिन भर तो आश्रम का काम रहता था, आराम के समय में से ही समय निकालता था । काम करते समय भी प्रायः लिखे जाने वाले विषय से संबंधित विचार ही अन्तर में घूमते रहते थे । जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, महाराजश्री के सिरहाने पानी का एक लोटा तथा गिलास रखा रहता था । एक दिन कुछ ऐसा प्रसंग बना कि मैं लोटा माँजना, पानी भरना, सब कुछ भूल गया । दोपहर में भी आराम के समय, लिखने में ही व्यस्त रहा, पानी की याद आई ही नहीं । महाराजश्री के आराम से उठते ही, मैं उनके कमरे में जाया करता था । उस दिन लिखने की व्यस्तता में उसमें भी देरी हो गई । जब मैं महाराजश्री के कमरे में गया तो देखा, अपने आसन पर शान्त-मौन बैठे थे । देखकर बोले, ''अरे भई, आज लोटे में पानी ही नहीं था, कब का प्यासा बैठा हूँ, पर अब हमारे ब्रह्मचारी जी तो लेखक हो गए हैं, उन्हें लिखने से ही फुरसत नहीं । चलो हमारा क्या है, जैसे-कैसे समय कट ही जाएगा ।'' सुनकर मैं शरम से गड़ गया । मुँह पर जैसे किसी ने पट्टी बाँध दी हो । बोलूँ भी तो क्या? मेरी भूल का कोई स्पष्टीकरण भी तो नहीं था। फिर भी मैं, झिझकते-झिझकते बोला, ''महाराज जी याद नहीं रहा, भूल गया था ।'' मैं तेजी से बाहर निकला, पानी का गिलास लाकर पेश किया ।

अब मैं मंदिर के बाहर, सिर पर हाथ रखे बैठा सोच रहा था, 'मेरी इस

लिखने की आदत के कारण ही आज की अप्रिय घटना घटी । न मैं लिखने में व्यस्त रहता, न ही भूलता । मेरे गुरुजी आज प्यासे बैठे रहे और मैं लिखता रहा। ऐसे लिखने से भी भला क्या लाभ !'' मैं बार-बार लिखने को कोसता हुआ वहाँ से चला। महाराजश्री तब तक बाहर आ कर वराण्डे में, कुर्सी पर विराज चुके थे । मैंने प्रणाम किया तथा इस प्रकार निवेदन किया, ''महाराज जी, आज मुझसे बड़ी भूल हुई । यह भूल मेरे लिखने के कारण हुई । अब के पश्चात् मैंने लिखना छोड़ दिया है । भविष्य में भूल नहीं होगी । क्षमा माँगता हूँ।'' महाराजश्री हँस दिए, बोले, ''यह भूल तुम्हारे लिखने के कारण नहीं हुई, लिखने में आसक्ति के कारण हुई, इसलिए आसक्ति त्याग दो, लिखना छोड़ने की आवश्यकता नहीं । मनुष्य किसी काम को बड़ा तथा किसी को छोटा समझता है । जो महत्त्व साधन करने का है, वही लोटे में पानी भरने का, कुटिया साफ करने का या कपड़े धोने का भी है । जब जो काम करना कर्त्तव्य हो, उस समय वही बड़ा है । अर्थात् काम बड़ा नहीं, कर्त्तव्य बड़ा है । तुम ने लिखने के काम को महत्त्वपूर्ण मान लिया और आसक्त हो गए । लोटे में पानी भरने के काम को महत्त्वहीन समझा और भूल गए । बस यही तुम से गलती हो गई । इस में लिखने के काम का कोई दोष नहीं ।

''पत्र लिखना जितना महत्वपूर्ण है, उसे लिफाफे में डालना, टिकिट लगाना तथा लैटर बाक्स में डालना भी उतना ही महत्वपूर्ण है । यह सब यदि व्यवस्थित नहीं हो तो पत्र लिखना ही बेकार है । जब जो काम कर्त्तव्य हो, उस से लापरवाही काम को बिगाड़ देती है । अपने मन को इस प्रकार संयत करो कि कर्त्तव्य कर्म करते समय एकाग्र हो तथा उसे छोड़ देने पर मानसिक निवृत्ति भी हो जाए । अब यदि तुम काम करते समय भी, लिखने के विषय के बारे में सोचते हो, तो यह गलत है । इस तरह मन नियंत्रण से बाहर हो जाता है । लिखते समय तुमको काम के बारे में विचार आते होंगे । यह भी गलत है । लिखते समय लिखने में तथा काम के समय काम में एकाग्र, यह मन नियंत्रण का उपाय है । अब जो तुम्हें लिखने के काम पर क्रोध आ रहा है, उस को शान्त करो । आसक्ति चाहे कितने ही सात्त्विक विषय में क्यों न हो, वह बंधनकारक ही होती है ।''

मैंने कहा कि एकाग्र हो कर कर्म करने का भला अध्यात्म से क्या संबंध है? महाराजश्री बोले, ''है और घनिष्ट है । यदि कर्म में मन एकाग्र नहीं होता है तो इसका अर्थ यह है कि मन को एकाग्र होने की आदत नहीं है । एकाग्र मन जहाँ भी लगेगा एकाग्र हो जाएगा । चंचल मन को ले कर कोई ध्यान में एकाग्रता प्राप्त नहीं कर सकता । प्रश्न चंचलता समाप्त करने का है ।''

एक स्वामीजी, महाराजश्री से मिलने आए। बातचीत में उन्होंने अपने हृदय की वेदना व्यक्त की। कहने लगे, "हमने अपने गुरुजी की बहुत सेवा की, किन्तु उस सेवा को गुरुजी ने अनदेखा कर दिया। "महाराजश्री एकदम चौंक पड़े, "अरे ! इसमें दुखी होने की क्या बात है ! यह तो आपका सौभाग्य है कि आप आश्रम के पचड़े से बच गए। गुरुजी ने आप पर बड़ी कृपा की है जो आपको माया के गर्त में गिरने से बचा लिया। दूसरी एक बात यह भी है कि आपने सेवा की ही नहीं। आपके मन में आश्रम प्राप्त करने की लालसा थी, जिसके लिए आप सेवा का दिखावा कर रहे थे। सेवा से मन प्रसन्न होता है, जबकि आप दुखी हो रहे हैं, किन्तु मैं फिर कहूँ कि गुरुजी का आप पर बहुत बड़ा उपकार है, नहीं तो जीवन भर लोगों के खाने-पीने की व्यवस्था में ही लगे रहते। आश्रम का खर्च पूरा करने के लिए लोभ वृत्ति उदय हो जाती। कोई न कोई समस्या नित्य खड़ी ही रहती। वैसे भी जो आश्रम, परम्परा से मिलता है, उस में बहुत ही समस्याएँ होती है। अब चैन से भजन करो।" महाराजश्री ने उन्हें जो समझाया उसका सारांश यह था।

(१) गुरुजी की सेवा करते समय, यदि आश्रम प्राप्ति का लक्ष्य मन में हो तो वह स्वार्थ होता है। सेवा में कोई आशा नहीं। सेवा का अर्थ ही यही है कि उसके लिए कोई पारितोषिक, आदर, अधिकार, श्रेय आदि की कामना मन में हो ही नहीं। सेवा में सेवा ही मुख्य होती है। संभव है गुरुजी ने आपको आश्रय देकर, आपकी सेवा के स्तर को नीचे न गिराना चाहा हो। यह भी संभव है आपको आश्रम नहीं मिला, गुरुजी का आशीर्वाद मिला हो।

(२) यह संभव है कि आप एक अच्छे सेवक तो हो, किन्तु कुशल व्यवस्थापक न हो। सेना का हर अच्छा सिपाही मेजर या कर्नल नहीं बन सकता। आश्रम चलाने के लिये कुशल व्यवस्थापक के साथ-साथ अच्छा वक्ता, आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत, व्यवहार कुशल तथा सहनशील होना भी आवश्यक है। मैं नहीं जानता कि आप में यह गुण कहाँ तक विकसित हैं।

(३) एक गुरु के अनेक शिष्य हो सकते हैं। वह सभी शिष्यों को आश्रम नहीं दे सकता तथा यदि इस पर कोई आपत्ति करे, तो यह गुरु के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप है। गुरु को सभी शिष्य एक समान प्रिय होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगा लेना चाहिए कि जिस शिष्य को आश्रम दिया वह सबसे अधिक प्रिय है।

(४) आश्रम किसी एक ही शिष्य को दिया जा सकता है, किन्तु गुरु अपनी कृपा सभी शिष्यों पर बनाए रखता तथा एक समान लुटाता है। आश्रम की अपेक्षा कृपा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आश्रम भवसागर से पार कराने

में सहायक नहीं होता, कृपा ही कारण होती है । आश्रम बंधन का कारण बन सकता है, जब कि कृपा मोक्ष का । अपने आपको आश्रम के आश्रित क्यों करते हो?

(५) वैसे भी यदि आश्रम की जिज्ञासा हो ही, तो गुरु आश्रम की आशा करने के स्थान पर, स्वतंत्र नया आश्रम बनाना अधिक व्यावहारिक है । यह ठीक है कि आश्रम मिलने पर धन-सम्पत्ति तथा शिष्य परिवार भी मिल जाता है परन्तु इसके साथ ही परम्परागत समस्याएँ भी जुड़ी रहती हैं, जिनसे नये महाराज को जूझना पड़ता है, जो कि अत्यन्त कठिन कार्य है । फिर सभी पुराने लोग मन से उसे महाराज स्वीकार भी नहीं करते ।

"स्वामी जी आप बच गए । आप दया के नहीं बधाई के पात्र हैं । नहीं तो आश्रम चलाते हुए भी सिर में राख पड़ने की संभावना ही अधिक होती है । अब आप अपनी इच्छा के मालिक हैं । कहीं आ जा सकते हैं, कितनी साधना कर सकते हैं । यदि आप मेरी राय मानें तो किसी भी आश्रम के फेर में नहीं पड़ें । इसीमें आपका कल्याण है ।"

मैं देख रहा था कि महाराजश्री कितना क्रमबद्ध तथा सूक्ष्म विचार करते हैं । गुरु बनने की लालसा शिष्यों में प्रायः होती है । यह लालसा न उन्हें गुरु ही बना पाती है, न शिष्य ही रहने देती है । गुरु-वासना भी आसक्ति का ही एक रूप है जो साधक को भ्रमाती, नचाती, भगाती हुई तमोगुण के गहरे गर्त्त में गिरा देती है । महाराजश्री ने जब यह कहा कि आश्रम की इच्छा करना थी तो घर ही क्यों छोड़ा था, तो बात सीधी हृदय में उतर गई । यदि अपने बच्चों का मोह छोड़कर जगत् त्याग किया था तो शिष्यों के मोह में फँस जाना था । फिर भला बच्चों ने क्या पाप किया था ! शिष्यों में मोह नहीं, कल्याण की भावना होना चाहिए ।

महाराजश्री कभी लोभ में नहीं पड़े, न ही उन्होंने कभी आश्रम के खर्च की चिन्ता की । दीक्षाएँ भी वह बहुत कम देते थे । ठीक भी है, दीक्षा को आय का माध्यम बना लेना, आध्यात्मिक दृष्टि से उचित भी नहीं । इससे शिष्य के प्रति कल्याण का भाव गौण हो जाता है । कुछ लोगों का ऐसा सुझाव था कि आश्रम के बाहर दो चार दुकानें बना दी जाएँ, तथा उससे प्राप्त होने वाली आय से आश्रम खर्च चलता रहे । देखने में सुझाव अच्छा भी था । सुनकर मेरे मन को भी भा गया, अभी अन्जान जो था । महाराजश्री तक बात पहुँची तो उन्होंने कहा, "यह हमारा काम नहीं है । साधु का काम व्यापार पर नहीं, आकाशी

वृत्ति (भिक्षा, जैसा भगवान दे) पर चलता है । व्यापार ही करना होता तो साधु बनने की क्या जरूरत थी । संन्यास का अर्थ पारिवारिक तथा सामाजिक रूप से एक प्रकार की मृत्यु है । इस बात को ध्यान में रखकर ही आप सुझाव दें।

''यदि आपको व्यवस्था करना ही है तो निरन्तर साधन-भजन की करिए, सत्संग तथा कीर्त्तन की करिए, आपस में प्रेम-सद्‌भावना की करिए । आर्थिक व्यवस्था करना किसी व्यापारिक संस्था या परिवार के लिए उचित है । जब तक आश्रम में साधन-भजन होता रहेगा, आश्रम पर कोई संकट नहीं । यदि साधन न हो तो आश्रम का बन्द हो जाना ही उचित है । यदि साधन न हो तो आर्थिक आक्सीजन से आश्रम को जीवित रखने का प्रयत्न निरर्थक है । आश्रम हमारा नहीं, आपका नहीं, शंकर का है । शंकर का खजाना अखण्ड है । जब तक शंकर चाहेंगे आश्रम चलेगा, जब नहीं चाहेंगे तो समाप्त हो जाएगा, फिर चाहे आप कैसी भी स्थिर व्यवस्था क्यों न कर लो। वैसे भी जगत् में कौन सी संस्था, समाज, देश, साम्राज्य ऐसा है जिसका कभी न कभी पतन न हुआ हो। यदि इतने पर भी आप दुकानें बनाना ही चाहते हैं, तो शौक से बनाएँ और चलाइए आश्रम । पर फिर हमारा यहाँ कोई काम नहीं । हम कहीं भी जाकर रह सकते हैं ।''

एक सज्जन ने प्रश्न किया, ''आपने कहा कि संन्यास का अर्थ सामाजिक मृत्यु है, किन्तु समाज के साथ संबंध तो फिर भी बना रहता है ।'' इस पर महाराजश्री ने कहा, ''पर यह संबंध सामाजिक नहीं वरन् आध्यात्मिक होता है। सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से तो संन्यासी की मृत्यु हो जाती है ।''

महाराजश्री की बात सुनकर सब चुप रह गए । कौन चाहेगा कि महाराजश्री चले जाएँ, इसलिए दुकाने बनाने का विचार त्याग दिया गया ।

एक दिन महाराजश्री आश्रम में चहलकदमी कर रहे थे । चारों ओर युक्लिप्टिस के गगन चुम्बी वृक्ष सिर उठाए खड़े थे । आम, फालसा, नीम्बू, चीकू, सीताफल तथा नीम, पीपल आदि झाड़ शोभा पा रहे थे । गेंदा, गुलदावदी, गुलाब, चम्पा, जैनिया, आदि फूल खिले थे । आश्रम बड़ा मनमोहक लग रहा था । महाराजश्री चलते हुए रुककर बोले, ''देखो ! इन वृक्षों, पौधों तथा बेलों के पास साधकों को समझाने के लिये बहुत कुछ है । मित्र-शत्रु का भाव मिटा कर वे एक समान सभी को शीतल छाया प्रदान करते हैं । साधकों के लिए यह बात अनुकरणीय है । जो उन पर कुल्हाड़ी चलाता है, उसे भी छाया में बिठाते हैं । अपने अंग-अंग कटवाने के लिये प्रस्तुत कर देते हैं । कोई

गिला नहीं, शिकवा नहीं । ऐसी सहनशीलता कि धूप, ठण्डक, वर्षा तथा तूफान सभी कुछ सहन करते हैं । स्वयं धूप में खड़े रहकर, यात्री को छाया में आराम की व्यवस्था करते हैं । खाने को फल देते हैं, स्वयं नहीं खाते । अपनी कमाई में उन्हें आसक्ति नहीं होती । न किसी की निंदा न चुगली । मौन साधे जगत् की चहल-पहल के साक्षी बने रहते हैं । राह चलते का सुगन्ध से मन प्रसन्न कर देते हैं । पुष्प स्वयं भी खिले रहते हैं तथा आने वाले का चेहरा भी खिला देते हैं । फल, फूल, पत्ते, छाल या लकड़ी जिस भी आशा से कोई आता है उसे वही दे देते हैं । धूप लगने से चाहे सूख जाएँ, किन्तु किसी से पानी नहीं माँगेंगे। अपनी जान सदा हथेली पर रखे रहते हैं ।

"अब तुम ही सोचो कि कितने साधकों के पास यह गुण है ! प्रकृति ने चारों ओर शिक्षा देने के लिए गुणों का विस्तार कर रखा है, पर कौन साधक शिक्षा ग्रहण करता है । सब राग-द्वेष तथा स्वार्थ में ही उलझे हैं । कोई किसी के लिए अपनी सुविधाएँ त्यागने के लिये तैयार नहीं । कोई क़िसी के मन को शान्ति देनें के लिए आगे नहीं आता । इसीलिए सब के अपने मन अशान्त हैं। सबके चेहरे पर अन्तः पीड़ा झलकती है, फिर भी अपने आप को साधक मानते हैं । सच पूछा जाए तो ऐसे साधक, साधन करते हुए भी साधन से दूर हैं ।"

मैं महाराजश्री की बात ध्यानपूर्वक सुन रहा था तथा साथ ही साथ हृदय मंथन भी कर रहा और मन ही मन लज्जित भी हो रहा था, क्योंकि वृक्षों के इन गुणों से मैं खाली था । महाराजश्री खोये हुए से न जाने वृक्षों से क्या बातें कर रहे थे ।

आकाश में बादल गरज रहे थे तथा बिजली चमक-कड़क रही थी । ऐसे लगता था कि अभी सिर पर पड़ी कि पड़ी । महाराजश्री के पास, मैं उस समय अकेला ही था । महाराजश्री ने कहा, "देखा, बिजली कैसे कड़कती है ! ऐसा लगता है कि पता नहीं कब किस पर गिर पड़े । यही काल का भी है । पता नहीं कब किसे आ कर दबोच ले । मनुष्य काल की ओर से कैसा ग़ाफिल बना है पर मौत को सिर पर साथ लिए घूमता है । बिजली तो फिर भी पहले चमकती है, कड़कती है, किन्तु काल की तो आहट भी सुनाई नहीं देती । बाज की तरह झपट्टा मारता है और ले जाता है । जीव कितना विवश है पर अभिमान बहुत है ।"

मैंने कहा, "महाराज जी, मौत से पहले मनुष्य भी प्रायः बीमार हो जाता है, यह मौत के आने की आहट ही तो है !" महाराजश्री ने कहा, "आहट तो है पर जीव उसे केवल बीमारी के रूप में ही लेता है, काल के आने की आहट के रूप में नहीं । वह अन्तिम समय तक जीवित बने रहने की आशा नहीं छोड़ता । यही तो अभिनिवेश कहा जाता है ।"

मौत की भयानकता की बात सुनकर मुझे डर सा लगने लगा। ऐसा लगने लगा कि पता नहीं कब बिस्तर बँध जाए। सब योजनाएँ तथा आशाएँ धरी की धरी रह जाएँ। ऐसा मन करे कि महाराजश्री इस विषयपर बात नही करें तो अच्छा। मनुष्य में यही तो कमी है जगत् से हटने की बात वह सुनना, समझना तथा मानना ही नहीं चाहता। मैंने बात को घुमाने का प्रयत्न करते हुए कहा, ''महाराज जी, बादल गरजने की ध्वनि अन्तर में भी सुनाई देती है तथा बिजली चमक भी दिखाई देती है, वह क्या है? उसका काल से कोई संबंध है?'' बोले, ''उसका काल के उदाहरण से कोई संबंध नहीं है।यह अनुभव या तो संस्कारो से संबंधित है या तत्त्वों के आधार पर प्रकट होता है। तत्त्वों का आधार बहुत बाद में आता है। प्राय: साधक संस्कारों के स्तर पर ही उलझा होता है तथा वह भी अपेक्षया स्थूल स्तर पर ही। जिस प्रकार कर्मो के संस्कार संचित होते हैं वैसे ही अभिमानयुक्त साधनाओं के भी होते है। वही संस्कार क्रियाओं में प्रकट हो कर ऐसे अनुभव करवाते है। तत्वों का आधार अभी समझ पाने मे असमर्थ है। तुम अभी इतना ही समझ लो कि जिस प्रकार तत्त्व, एक के पश्चात एक पुन: तत्त्वों में विलीन होते जाते हैं। जो क्रिया तत्व बनते समय प्रकट होती है वही क्रिया विलीन होते समय भी घटित होती है, किन्तु यह विषय केवल बौद्धिक स्तर पर समझने का ही नहीं है। उस के योग्य अवस्था को प्राप्त करने के लिये तुम्हे काफी साधन करना होगा।''

मैंने पूछा, 'क्या ध्वनि (नाद)तथा प्रकाश का भी परस्पर कुछ संबंध है?' बोले, ''हाँ, दोनो ही रगड़ से स्थान पाते हैं। अभी तुम केवल स्थूल रगड़ को ही समझते हो, किन्तु यह रगड़ सूक्ष्मतिसूक्ष्म तत्वों की है। बादलों की रगड़ से ही गरजन (नाद) होता है तथा उसी रगड़ से बिजली (प्रकाश) उत्पन्न होती है, किन्तु यह रगड़ तो स्थूल है तथा स्थूल आकाश में ही प्रकट होती है। अन्तर आकाश भी सूक्ष्म है तथा तत्व भी अत्यन्त सूक्ष्म है। उन्हें अनुभव करने के लिए संस्कार तथा वासना रूपी घाटियों को पार करना पड़ता है।''

मेरी समझ में कुछ नहीं आया। मैं यदि समझा तो केवल इतना ही कि मैं कुछ नहीं समझा। महाराजश्री जैसे मेरे मन की बात समझ (जान) गए थे, बोले, ''मैंने तुम्हे पहले ही कह दिया है कि अभी तुम्हारा इस अत्यन्त सूक्ष्म विषय में अधिकार नहीं है। हाँ, दृश्यमान स्थूल जगत् की बात, बादलों का गरजना तथा बिजली का चमकना, कड़कना तुम समझते ही हो।'

आश्रम में काफी चहल-पहल थी । थोड़ी ही देर में बंगाली बाबा श्री रामदास ओंकारनाथ आने वाले थे । भारत तथा विदेशों में बाबा के भक्तों तथा शिष्यों की संख्या काफी बड़ी थी । भक्तिमार्ग के यह महापुरुष अत्यन्त सादे, सरल तथा भावुक थे । पधारने पर दोनों महापुरुषों में बातचीत होने लगी । बाबा कह रहे थे, "हम तो एक प्रेम को ही जानते हैं, भगवान के चरणों में प्रेम, उस के बनाए सभी जीवों से प्रेम, भगवान का प्रकट रूप समझ कर जगत् से प्रेम । जिस हृदय में प्रेम हो उसमें राग-द्वेष कैसे प्रवेश पा सकता है । अन्तर में अपने आप वैराग्य उदय होता जाता है, मन विषयों से हटता जाता है तथा मन में सरसता तथा दिव्यता झलकने लगती है । प्रेम मित्र-शत्रु का भेद मिटा देता है । प्रेमी-भक्त पूर्णतया प्रभु के आश्रित होता है । प्रभु ही उसका सब कुछ होता है । मिलना, नहीं मिलना, कब मिलना, कैसे मिलना, किस रूप में मिलना, यह प्रभु के विचारणीय विषय हैं । भक्त तो प्रभु प्रेम में ही छका रहता है ।"

महाराजश्री ने कहा, "आप कैसी सुन्दर बात कर रहे हैं । जगत् के प्रति वैराग्य तथा प्रभु के प्रतिं प्रेम यही अध्यात्म का सार है । कोई पहले जगत् से हटता है, उसके उपरान्त प्रभु में प्रेम होता है । कोई पहले मन को प्रेम से भर लेता है, जिसके परिणाम स्वरूप जगत् से वैराग्य हो जाता है । वैराग्य तथा प्रेम अन्योन्याश्रित हैं । जितना एक बढ़ेगा, उतना दूसरा भी बढ़ेगा । एक के घट जाने से दूसरा भी घट जाएगा । इसलिए भक्त को भी, प्रेम बनाए रखने के लिये, वैराग्य की भी रक्षा करते रहने के प्रति सजग होना पड़ता है । अन्यथा वैराग्य का अभाव प्रेम के भाव को मटियामेट कर सकता है, जिसके लिये जीवन का संयमपूर्वक होना आवश्यक है । भक्ति, ज्ञान, योग, कर्म कुछ भी साधन क्यों न हो, प्रभु-प्रेम सभी के लिए समान आवश्यक है, अन्यथा सब कुछ शुष्क होकर रह जाता है । हृदय का द्वार तो प्रेम से ही खुलता है ।"

इस पर बाबा ने प्रश्न किया, "आप शक्तिपात् के आचार्य हैं । आप शक्तिपात् के साधन में प्रेम को किस स्थान पर रखते हैं?" महाराजश्री बोले, "संस्कार, प्रारब्ध तथा वासना, प्रेम तथा वैराग्य के विकास मार्ग में सबसे मुख्य बाधा हैं । इनको हटाए बिना न मन में वैराग्य उदय हो सकता है न हृदय में प्रेम । जैसे-जैसे ये शुद्ध होते जाएँगे, प्रेम तथा वैराग्य विकसित होता जाएगा । शक्तिपात् इन्हीं से छुटकारा प्राप्त करने की की विद्या है । साधक यदि हृदय में प्रेम-विभोर होकर, मन में द्रष्टाभाव में स्थित होकर, शक्ति की क्रियाओं के प्रति समर्पित होता है तो प्रेम वैराग्य बढ़ने लगते हैं । समर्पण तथा प्रेम में विशेष अन्तर नहीं है । प्रेम में समर्पण होती ही है । आप यूँ भी कह सकते हैं कि

समर्पण के बिना प्रेम अधूरा रह जाता है तथा प्रेम बढ़ने के साथ- साथ समर्पण तथा समर्पण बढ़ने के साथ- साथ प्रेम मी बढ़ता जाता है । शक्तिपात् का साधन समर्पण से आरम्भ होता है जो कालान्तर में, साधन करते- करते प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। यह बात तो साधक के भाव पर आधारित है कि वह कैसे साधन करता है। यदि मन में राग- द्वेष का भाव भरा हो तो उसी की वृद्धि होती रहती है । प्रेम तथा वैराग्य का भाव हो, उसका विकास होता जाता है । वैसे साधन का उद्देश्य प्रेम तथा वैराग्य का ही विकास करना है ।''

बाबा ने कहा, ''कई भक्तों की शक्ति, भजन करते-करते, स्वत:ही जाग्रत हो जाती है, की शक्तिपात् महत्त्वपूर्ण नहीं, शक्ति जाग्रति मुख्य है, किन्तु भजन करते करते कितने लोगों की शक्ति जाग्रत होती है? कुछ एक की ही न । जब कि शक्तिपात् में दीक्षित हमारे प्राय: शिष्यों को जाग्रति प्राप्त है। यह सरलतम उपाय है जिससे अन्तर्शक्ति की क्रियाओं से प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है। साधक की उन्नति उसके साधन तथा भावना पर आधारित है, परन्तु उसका अन्तरद्वार तो खुल ही जाता है। जिससे उसे बहुत सुगमता प्राप्त हो जाती है ।'

१९६० के अन्तिम महीनों में मुझे सायटिका की बीमारी ने आ घेरा । काफी तेज आक्रमण था । उस समय महाराजश्री की कुटिया में ही उनके सामनेवाले कमरे में रहता था । एक सप्ताह के लिए उपचार हेतु इन्दौर तथा फिर अहमदाबाद । १९६१ की बीस तारीख को वापिस देवास आया तो उस दिन एक सज्जन की ब्रह्मचर्य दीक्षा थी । देखते ही महाराजश्री बोले, ''चलो अच्छा हुआ, यह भी आ गया ।'' उन सज्जन के साथ ही महाराजश्री ने मुझे भी ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान कर दी । दीक्षा के पश्चात्, महावाक्य 'प्रज्ञान ब्रह्म' की व्याख्या समझातें हुए कहा, ''यह ऋग्वेद का वाक्य है जिस में कहा गया है कि प्रज्ञान ब्रह्म ही है, किन्तु हम इस का अर्थ अपनी दृष्टि से करते हैं जो कि अपने साधन के सिद्धान्त के अनुकूल है । प्रज्ञान शक्ति का वह स्तर है जो इन्द्रियों में चेतनता प्रदान करता है । यह गतिशीलता चाहे बहिर्मुखी हो अथवा अन्तर्मुखी, वह ब्रह्म की ही शक्ति है, ब्रह्म ही है। सामान्यता जीव इस की दिव्यता को जान- पहचान नहीं पाता तथा इसे इंन्द्रियों की शक्ति समझता है । बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी, इसके दो स्तर है । बहिर्मुखी अवस्था में यह जगत् का कार्य तथा ज्ञान कराती है । वह ज्ञान होते हुए भी ज्ञान नहीं है अर्थात् प्रज्ञान है । भ्रान्ति भी शक्ति की क्रियाशीलता के बिना नहीं हो पाती । अन्तर्मुखी

अवस्था में संस्कारों तथा वासनाओं को शुद्ध करती हुई आत्माभिमुख अग्रसर होती है । योग की भाषा में इसे चेतना तथा ज्ञान की भाषा में प्रज्ञान कहा जाता है ।

"चित्त-शक्ति, चैतन्य शक्ति, चित् शक्ति तथा चेतना (प्रज्ञान) सब चिति शक्ति के ही स्तर हैं, तथा ब्रह्म ही हैं । सर्वप्रथम साधन में प्रज्ञान को अन्तर्मुख किया जाता है । तब क्रियाओं के माध्यम से प्रज्ञान का अनुभव होता है । केवल शाब्दिक अर्थ समझ लेने से ही प्रज्ञान की यथार्थ समझ नहीं आ सकती । यह मात्र बौद्धिक नहीं अपितु अनुभवगम्य विषय है, तभी कालान्तर में सोऽहम् (जो वह है सो मैं हूँ) की अवस्था उदय होती है । लोग बिना प्रज्ञान का अनुभव हुए, मन की निर्मलता के अभाव, में सोऽहम् का जप करने लगते हैं । जब तक प्रज्ञान समक्ष, प्रत्यक्ष सम्मुख न हो, तब तक कैसे कहा जा सकता है कि जो वह सो मैं हूँ ! अनुभव के अभाव में केवल बौद्धिक कसरत वृथा है। प्रज्ञान की जाग्रति अनुभव, प्रत्यक्षीकरण, अथवा जड़ शरीर से पृथक्करण साधन का आधार है । जिस प्रकार नींव के बिना भवन खड़ा नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रज्ञान की अनुभूति के बिना साधन भी संभव नहीं है । आज विद्वानों ने प्रज्ञान को तर्क, विवाद तथा प्रवचन का विषय बना दिया है, किन्तु यह अनुभव का विषय है । 'प्रज्ञान ब्रह्म' की अनुभूति के पश्चात् ही आगे के महावाक्यों की अनुभूति होती है ।"

प्रश्न - "किन्तु अभी तक तो आप कुण्डलिनी जाग्रति को साधन का आधार तथा उस का स्थान मूलाधार बताते आ रहे हैं, जब कि आज उसको प्रज्ञान तथा उसका स्थान इन्द्रियाँ कह रहे हैं ।"

उत्तर - "यह तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है । प्रत्येक शास्त्र की अपनी शब्दावली, शैली तथा अनुभवों का आधार होता है । कई बार विभिन्न शास्त्र एक दूसरे के विपरीत जाते से दिखाई देते हैं । सूक्ष्मात्मक तथा समन्वयात्मक दृष्टि से देखा जाए तो सभी एक ही बात कहते हैं । अन्तर देश, काल, परिस्थितियाँ, रचयिता के निजी अनुभव तथा विषय के प्रस्तुतिकरण के ढंग में पड़ता है । वेदान्त उच्चतम स्तरीय ज्ञानात्मक सिद्धान्त है जिसमें ज्ञान की दृष्टि से सभी विषयों की समीक्षा की गई है, इसीलिए चेतना को भी प्रज्ञान कहा गया है । वेदान्त में निम्नस्तरीय साधन-विस्तार नहीं के समान है । प्रायः ब्रह्म के निरूपण पर ही अधिक बल दिया गया है । इस के विपरीत योग सामान्य जीव को नीचे से ऊपर उठाने का दुष्कर कार्य करता तथा उसके लिए साधन का दिग्दर्शन करता है । योग का विषय उच्च ज्ञानात्मक स्तरों की व्याख्या न होकर, साधन की गुत्थी सुलझाना अधिक है । यही हाल भक्ति ग्रन्थों का भी है।

जिनका साधन केवल प्रभु प्रेम है । उच्चतम ज्ञानात्मक भूमिका में उन्होंने सिर खपाई नहीं की । इस प्रकार ज्ञान-भक्ति तथा योग के विभिन्न ग्रन्थों के अपने-अपने क्षेत्र शब्दावली तथा साधन क्रम हैं, अपने स्तर हैं । निम्न स्तर के साधक के साधन तथा मान्यताएँ, उच्च स्तर के साधक से भिन्न होना स्वाभाविक हैं । निम्न साधक के उच्च भूमिका प्राप्त कर लेने पर साधन तथा मान्यताओं के स्वरूप में भी अन्तर आ जाता है । कठिनाई तब आती है जब साधक छलाँग लगा कर सीधे वेदान्त सिद्धान्त की काल्पनिक भूमिका से अपने आप को जोड़ लेता है । वेदान्त ज्ञान यथार्थ होते हुए भी वह कल्पनाओं में उड़ता फिरता है।

"इस भूमिका के पश्चात् अब हम मूल विषय पर आते हैं । वेदान्त चूँकि साधन के निम्न स्तरों में हस्तक्षेप नहीं करता, इसलिए उसने चेतना के निम्नतम स्तर को प्रज्ञान कह कर छोड़ दिया, उसे भी ब्रह्म कहा गया तथा उस का आधार इन्द्रियाँ बताया गया । योग का साधन क्षेत्र निम्न अवस्था से लेकर एक अवस्था विशेष तक है, इसलिए चेतनावस्था की विभिन्न अवस्थाएँ, उसके विभिन्न स्तर तथा विभिन्न स्तरों पर उसे के कायों की चीरफाड़ करता है । प्रसुप्त तथा जाग्रत अवस्थाओं का भेद दर्शाकर उनकी गतिशीलता किधर होती है, यह बताता है । प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगदाभिमुखी जाग्रत कहता हैं जो बाहर की ओर प्रवाहित हो रही है । प्रवाह का आधार इन्द्रियाँ ही हैं । कुण्डलिनी का आधार, योग चाहे मूलाधार कहता है, परन्तु सामान्य जन उस प्रसुप्त कुण्डलिनी को इन्द्रियों की शक्ति ही कहते हैं । इस का भाव यह हैं कि जो योग की प्रसुप्त कुण्डलिनी हैं, वह वेदान्त का प्रज्ञान हैं । प्रसुप्त कुण्डलिनी का अनुभूत आधार इन्द्रियाँ ही हैं । जाग्रत कुण्डलिनी इन्द्रियों का आधार त्यागने लगती है तथा अन्तर द्वार खोलकर, आत्माभिमुख वढ़ने लगती हैं । प्रज्ञान के विषय में भी ऐसा प्रयोग तो नहीं होता, किन्तु उसे प्रसुप्त प्रज्ञान तथा जाग्रत प्रज्ञान कह सकते हैं । जाग्रत प्रज्ञान का संकेत "प्राह्मं ब्रह्म" कह कर दिया गया। यह अर्थ हम इसलिए ले सकते हैं क्योंकि आगे के सभी महावाक्य प्रज्ञान की जाग्रति की अपेक्षा रखते हैं।

"इस प्रकार यदि देखा जाए तो कुण्डलिनी मूलाधार में स्थिर होते हुए भी, उस की प्रसुप्तावस्था की कार्यशीलता का आधार इन्द्रियाँ ही हैं । जाग्रत प्रज्ञान के आधार के विषय में वेदान्त कुछ नहीं कहता, केवल उस की जाग्रति का संकेत देकर छोड़ देता है, क्योंकि उस का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है. किन्तु विवाद तब खड़ा होता हैं जब योगी अपने सामने से वेदान्त का लक्ष्य हटा देते हैं तथा वेदान्ती भी साधन रूप में, योग की उपेक्षा करते हैं और दोनों विचार-

धाराओं को अध्यात्म विकास के क्रम की कड़ियाँ नहीं मानते हुए, दोनों की तुलना करने लगते हैं ।''

प्रश्न - ''इस का यही भाव हुआ की प्रज्ञान जाग्रत हो चाहे प्रसुप्त वह प्रत्येक अवस्था में ब्रह्म ही है?

उत्तर - जाग्रत तथा प्रसुप्त, केवल पारिभाषिक शब्द हैं अन्यथा चैतन्य का कोई भी स्तर हो, उसका स्पन्दन तथा गतिशीलता कभी लुप्त नहीं होते । प्रसुप्तावस्था में भी यह जगदाभिमुख कार्यशील रहता है । उसे प्रसुप्त इसलिए कहा जाता है क्योंकि अपने उद्‌गम आत्मा के प्रति वह सोया होता है । इसी बात की ओर संकेत करते हुए भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

''जब जगत् में सर्वत्र रात्रि फैली है तब प्रायः सभी प्राणी प्रज्ञान की प्रसुप्तावस्था में स्थित हैं, न अपना कोई ज्ञान है न ही जगत् का यथार्थ ज्ञान । उस समय योगीजन जागते हैं, अर्थात् प्रज्ञान की जाग्रत अवस्था में स्थित होते हैं । जैसे जीव को जगत् का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसे ही योगी को जाग्रत प्रज्ञान का । जिस नाशवान क्षणभंगुर जगत् में सब प्राणी जागते हैं, अर्थात् प्रज्ञान क्रियाशील रहता है, उस के प्रति तत्त्व को जानने वाले मुनि सोते है अर्थात् उदासीन रहते हैं । प्रज्ञान जगत् से हटकर अन्तर्मुखी प्रवाहित होता है ।''

उपसंहार

आज युग, बड़ा भयानक युग है । साधकों के लिए यह अत्यन्त ही कठिन है। जो साधक जितना अधिक गंभीर तथा नियमबद्ध होता है उसे उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ झेलना पड़ती हैं । आज जिसका भी आदर करो, वही अपमान करने पर उतारू हो जाता है । जिससे प्रेम करो, उत्तर में वह घृणा करता है । जिस की भी सहायता करते रहो, समय पड़ने पर वह धोखा दे जाता है । स्वार्थ इतना अधिक प्रचारित है कि निजी लाभ के लिए किसी का गला काट देने में भी संकोच नहीं किया जाता । जो यह सब नहीं करता, उसे भी सहना तो पड़ता ही है । जगत् न कभी सुधरा है न सुधरेगा । बड़े-बड़े साधक भी युग-प्रभाव का सामना न कर पाने से अपना धैर्य खो बैठते हैं तथा विचलित हो जाते हैं । या तो युग के साथ चलना पड़ता है या उससे दुखी होकर चित्त को विक्षिप्त कर लिया जाता है और या फिर उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन कर चित्त को अप्रभावित भी रखा जा सकता है । गंभीर साधक तीसरे उपाय को अपनाने में ही श्रेय मानते हैं ।

साधन का उपरोक्त रहस्य श्री गुरु महाराज की कृपा से समझ में आया। कितने ही समय से इन बातों को सुनते तथा पढ़ते चले आ रहे थे, किन्तु अभी तक कभी भी इधर पूरी तरह ध्यान नहीं दिया था, किन्तु यही एक ऐसा तथ्य है जिसके प्रति लापरवाह होकर साधक, साधक नहीं रह जाता तथा जिस पर लक्ष्य रखने से साधक को, उसकी साधना का फल मिलने लगता है । साधक का निश्चित एक मार्ग होता है । सब को प्रेम-आदर देना, मित्र-शत्रु का भाव हटाकर सबसे समान रूप से प्रेम करना, किसी के द्वारा कोई भूल हो जाय, उसे क्षमाकर देना, दुःखों-कष्टों को सहन करते हुए भी मन पर कोई प्रभाव नहीं लाना, यदि कोई बुरा भी करे तो भी उसके साथ अच्छा ही करना । जगत अच्छा है या बुरा, इसकी चिन्ता छोड़कर स्वयं अच्छा बनने के लिए प्रयत्न करना तथा इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, कुछ भी त्याग करने को तैयार रहना इत्यादि । महाराजश्री के उपदेशों का सारांश इस प्रकार है-

(१) केवल आलती-पालती मार कर, तथा आँखें मूँद कर बैठने का नाम ही साधन नहीं है । जगत् से मन को तोड़ना तथा चैतन्य के साथ जोड़ने का प्रयत्न करते रहने की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है । इसके लिए साधन भी आवश्यक है तथा प्रति क्षण मन की गतिविधियों पर नजर रखना भी । संस्कारों को क्षीण करना जितना कठिन है, उससे भी कहीं अधिक कठिन संस्कार-संचय को रोकना है ।

(२) दीक्षा तो कई लोग लेते हैं, किन्तु समुचित साधन नहीं कर पाते। गुरु तो कृपा करते हैं, किन्तु उससे लाभ उठाना शिष्य का काम है। केवल दीक्षा ले लेने से ही कोई सिद्ध नहीं हो जाता। जीव के अंदर इतनी मलिनता भरी है कि उसके लिए दीर्घकालीन साधन, गुरु के प्रति श्रद्धा, कर्म करते समय सेवा भाव तथा जाग्रत शक्ति के प्रति समर्पण भी आवश्यक है। यह सब धीरज तथा उत्साह के बिना संभव नहीं।

(३) चाहे साधन का समय हो, चाहे व्यवहार का, समर्पण, प्रेम तथा राग-द्वेष रहित वृत्ति सदैव बनी रहनी चाहिए। इसके लिए मन के सतत निरीक्षण करते रहने की आवश्यकता है। एक क्षण के लिए भी यदि यह क्रम खण्डित हो जाय तो मन कोई न कोई उपद्रव खड़ा कर देता है। मन सदा चंचल तथा अस्थिर होने से एक विषय या स्थान पर ठहरना नहीं चाहता। साधन-भजन करते समय वह और भी अधिक भागता हैं।

(४) समर्पण के भी पहले ईश्वर तथा गुरु में श्रद्धा का होना अनिवार्य है। जब श्रद्धा ही नहीं तो समर्पण कैसा तथा किसको ? समर्पण तथा सहन-शक्ति का घनिष्ठ संबंध है। समर्पण तथा प्रेम भी एक दूसरे के आश्रित हैं। एक प्रेमी साधक ही समर्पण कर सकता है तथा समर्पणयुक्त साधक ही प्रेमी हो सकता है। किसी का कोई भी साधन क्यों न हो, प्रेम सबके लिए आवश्यक है।

(५) प्रेम एक ऐसा तत्त्व है जो साधन को निरन्तरता प्रदान कर सकता है। प्रेम भी ऐसा कि हृदय का सारा प्रेम केवल भगवान के लिए ही हो, किसी प्रकार का विभाजन नहीं हो। कुछ प्रेम धन-सम्पदा, घर-परिवार इत्यादि में तथा कुछ प्रेम भगवान में। यह विभक्त प्रेम है। विभक्त कभी भक्त नहीं हो सकता।

(६) जितना किसी में राग-द्वेष अधिक होता है, उतना ही उसके लिए जगत् में सत्यता की प्रतीति अधिक होती है तथा उतना ही उसका मन जगत् की घटनाओं से अधिक प्रभावित होता है। राग-द्वेष चित्त की विषम अवस्था है। जितनी विषमता अधिक होगी उतना ही मन अधिक दुःखी होगा तथा उतना ही जीवन जगत्मय होगा। राग-द्वेष साधन में बड़ा भारी विघ्न है। समता भाव के मन में धारण करने से राग-द्वेष की वृत्ति दब जाती है।

(७) राग-द्वेष तथा अन्य विकारों का समूल नाश तो तभी संभव है जब शक्ति अपनी लीलाओं-क्रियाओं से संस्कारों तथा वासनाओं को पूर्णतया क्षीणकर, मन को निर्मल बना देगी। तब चित्त में स्वाभाविक समता का उदय होगा। शक्ति को स्वतंत्र तथा स्वाभाविक क्रियाएँ करने का अवसर प्रदान करना, साधक का कर्त्तव्य है। जो साधक अभिमानयुक्त होकर, क्रियाओं में

अपनी इच्छाओं का समावेश करते रहते हैं, उनकी क्रियाओं की स्वतंत्रता तथा स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है । उनकी क्रियाओं का आधार, उन के संस्कार नहीं होकर, इच्छाएँ हो जाती हैं । संस्कारों के आधार पर क्रियाएँ, संस्कार क्षय का कारण हैं तो इच्छाओं के आधार पर क्रियाएँ संस्कार संचय का ।

(८) साधक अपने प्राण हथेली पर रखकर साधन करता है । उसे साधन को छोड़कर दूसरी चिन्ता नहीं होती । जगत् उस का मजाक उड़ाए या जगत् में उसका यश-अपयश हो या संसार उसे मूर्ख समझ कर धोखा दे, वह इन बातों से अप्रभावित बना रह कर, साधनरत रहता है । जितने भी महापुरुष हो गए हैं, सभी ने अनेक कष्ट सहन किए हैं । सभी को अपने-परायों ने धोखा दिया है । सभी को यश-अपयश के तूफान में से होकर निकलना पड़ा है, तथा सभी को अभावों का सामना करना पड़ा हैं । आध्यात्मिक उन्नति केवल बातें करने से प्राप्त नहीं हो जाती ।

(९) सारा जगत् चैतन्य से भरा है, अन्दर-बाहर, ऊपर-नीचे, चैतन्य ही चैतन्य। जिसे लोग जड़ समझे बैठे हैं, वह भी चैतन्य की ही एक स्थिति है, किन्तु यह बात केवल विचार से समझने की नहीं, अनुभव से जानने की है । यह अनुभव गुरु कृपा से, पहले अपने अन्तर में होता हैं, शक्ति की क्रियाओं के रूप में । निर्मलता आते जाने के साथ-साथ, यह अनुभव अन्दर से बाहर की ओर विस्तार पाता है । अर्थात् जगत् में भी, जो कि पहले जड़ दिखाई देता था, सर्वत्र चैतन्य ही दिखाई देने लग जाता है ।

(१०) साधक को बार-बार अपना हृदय मंथन करते रहने की आवश्यकता है। आत्म-निरीक्षण एक ऐसा उपाय है जो साधक को, उसकी वास्तविक आन्तरिक स्थिति को सामने ला खड़ा करता है । आत्म-निरीक्षण से लक्ष्य हटते ही अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ सिर उठा लेती हैं तथा साधक के मार्ग से भटक जाने की प्रत्येक संभावना मुँह उठाए, उसके सामने आ जाती हैं । हृदय-मंथन साधक के दोषों तथा अवगुणों को, समक्ष उपस्थित कर, उसके वास्तविक धरातल से अवगत करा देता है, उसे सोचने-सुधरने का अवसर प्रदान करता है ।

(११) व्यवहार-शुद्धि के लिए प्रयत्नशील बने रहने का साधन-पथ में बड़ा महत्त्व है क्योंकि व्यवहार ही साधक को अध्यात्म की ओर भी अग्रसर करता है तथा व्यवहार ही उसे जगत् में धकेल देता है । हमारी वर्त्तमान दयनीय स्थिति का कारण व्यवहार ही है । साधक में वैराग्य का विकास बहुत कुछ. उसके द्वारा किए जाने वाले व्यवहार पर आधारित है । आसक्तियुक्त व्यवहार बंधन का तथा सेवा-भाव युक्त व्यवहार प्रभु-प्रेम का कारण है ।

(१२) सहनशीलता एक और महत्त्वपूर्ण, साधन का अंग है जो व्यवहार-शुद्धि, प्रारब्ध-क्षय तथा वैराग्य-उदय में महती भूमिका निभाता है । कुछ विद्वान तो सहनशीलता को ही सम्पूर्ण साधन मानते हैं । सहनशीलता ही राग-द्वेष, अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा यश-अपयश की भावना को दूर हटाने का माध्यम है । जगत् की अधिकांश समस्याएँ सहनशीलता के अभाव के कारण ही हैं । सहनशीलता ही मन में संतोष प्रकट करती है । सहनशीलता के बिना साधन में उन्नति नहीं ।

(१३) गुरु कृपा से जो शक्ति साधक में अन्तर्मुखी जाग्रत होती है उसको सामान्य नहीं समझना चाहिए । ऐसी जाग्रति जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है जो आप के सामने दिव्य अनुभवों, अध्यात्म की वास्तविकताओं तथा आत्म-लाभ का मार्ग खोल देती है, किन्तु जाग्रति के पश्चात् ऐसे निश्चिन्त भी नहीं हो जाना कि अब हमें कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं । साधक की वास्तविक परीक्षा जाग्रति के पश्चात् ही आरम्भ होती है । यह मत समझ बैठना कि अब साधन निर्विघ्न चलता रहेगा । जहाँ एक ओर आप की सफलता का मार्ग खुल जाता है, वहीं आप के सामने विघ्नों, कठिनाइयों तथा समस्याओं का पहाड़ भी खड़ा हो जाता है ।

(१४) गुरु तत्त्व के दो स्वरूप हैं - बहिर्गुरु तथा आन्तर्गुरु । आन्तर्गुरु ही बाह्य प्रत्यक्ष गुरु में भी कार्यशील होता है तथा शिष्य के अन्तर में भी, विभिन्न अनुभवों के माध्यम से उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है । भाव यह है कि वास्तव में आन्तर्गुरु अर्थात् ईश्वरीय जाग्रत शक्ति ही गुरु है, जो गुरु तथा शिष्य दोनों के शरीरों के माध्यम से कार्यशील तथा प्रकट होती है । साधक को गुरु-शरीर के अन्दर के गुरुतत्त्व को पहचान कर, उससे संबंधित होना होता है, किन्तु उसके लिए पहले वह अपने अन्तर में गुरु-तत्त्व का साक्षात्कार करता है तभी गुरु शरीर में गुरु तत्त्व को पहचान पाता है । गुरु शिष्य का मिलन, दोनों शरीरों में विद्यमान गुरु तत्त्व का मिलन है । तब गुरु-शिष्य संबंध विलीन हो जाता है ।

(१५) गुरु तत्त्व एक सर्वव्यापक सत्ता है । उस सत्ता का कल्याणकारी स्वरूप ही गुरु कहलाता है । जीव के कल्याण के लिए ही वह सत्ता, कई बार जीव को दण्डित भी करती है । गुरु शरीर के माध्यम से, कृपा की वर्षा कर, उसे ज्ञान प्रदान करती है । वही सत्ता जीव में वैराग्य की स्थापना करने के लिए उसे अपमानित, लज्जित, भयभीत कर, भाँति-भाँति के दुःखों की व्यवस्था करती है ताकि उसके समक्ष जगत् का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाय ।

(१६) साधन एक नित्य सतत्, तेल-धारावत् प्रवाहित होने वाला क्रम है,

जिसमें क्षण-मात्र का भी खण्ड नहीं होता। यदि व्यवधान आ जाय तो साधन क्रम रुक जाता है तथा फिर वह साधन नहीं रहता। साधन तथा साधनेतर समय का वर्गीकरण केवल विषय को समझने के लिए है अन्यथा सभी समय साधन का ही होता है। साधनेतर समय में व्यवहार का भी समावेश होता है, किन्तु साधक व्यवहार को भी साधन बना लेता है।

(१७) मन की गाँठ कहो या भ्रान्ति, यही माया है। जड़ तथा चेतन में ग्रन्थि पड़ जाने की भ्रान्ति हो जाती है, जो न होते हुए भी, हुई सी दिखाई देती है। इसी भ्रान्ति से ग्रसित होकर जीव अभिमान करता, संस्कार संचय करता तथा सुखी-दुखी होते हुए, युग युगान्तर से जन्म पर जन्म ग्रहण करता चला आ रहा है। इसी भ्रान्ति के आधार पर जगत् टिका है। भ्रान्ति न रहने पर जगत का अस्तित्त्व भी समाप्त हो जाता है।

(१८) मनः स्थिति के अनुरूप ही जीव जगत् को देखता है इसीलिए एक ही जगत् प्रत्येक जीव को अलग-अलग रूप में दिखाई देता है। पापी-मन को जगत् पाप से भरा दिखाई देता है, भक्त को जगत् में सर्वत्र भगवान दिखाई देते हैं। अन्तर का भाव, वासना, वृत्ति, गुण, दृष्टिकोण, संस्कार यह सब मिलकर मनः स्थिति का निर्धारण करते हैं। यदि जीव इस भाव संस्कारादि से दूर हो जाए तो जगत् का नाटक ही समाप्त हो जाता है।

(१९) भगवान की कृपा हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा साधन, दीर्घकाल तक चलने वाला एक लम्बा क्रम है जिसमें पग-पग पर साधक की परीक्षा होती रहती है, अतः साधक को सावधानीपूर्वक, धैर्यपूर्वक साधन की निरन्तरता बनाए रखना होती है। उसके अन्तर में के विकार बार-बार उसे उकसाते हैं, मन को विक्षिप्त तथा उद्वेलित करते रहते हैं। साधक को एक ओर अन्तर के विकारों से युद्ध करना होता है तथा दूसरी ओर अध्यात्म लाभ के लिए प्रयत्नशील रहना होता है। यह अन्तर्द्वन्द्व कोई साधक ही समझ सकता है। जगत् के लोग, नासमझी में उसकी हँसी उड़ाते हैं। साधक को उसे भी सहन करना पड़ता है।

(२०) जब तक साधक में काम-क्रोध-लोभ का सबीज नाश नहीं हो जाता तब तक उस का भव का संकट दूर नहीं होता। यह सब आसक्ति तथा राग-द्वेष का परिणाम है। साधन से यह कुछ समय के लिए दब जाते हैं तथा कुछ समय के पश्चात् पुनः सिर उठा लेते हैं। ज्ञानी, तपस्वी, योगी भी, इनका आक्रमण होने पर, इनकें समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं। साधक तथा इन विकारों के परस्पर युद्ध को ही साधन कहा जाता है।

(२१) साधक को जितनी तथा जिस प्रकार साधन करने की आवश्यकता है, प्रायः कर नहीं पाते । जिस प्रकार का समर्पण, मन का भाव, व्यवहार की शुद्धि तथा साधन में निरन्तरता की आवश्यकता है वह साधकों में कम ही देखने में आती है । वाणी पर नियंत्रण नहीं होता, समय का अपव्यय रोक नहीं पाते, अनावश्यक प्रवृत्तियों में रुचि होती है, क्रोध में बेकाबू हो जाते हैं, जिससे साधन में जिस भाव तथा समर्पण की आवश्यकता होती है, वह नहीं रख पाते।

(२२) साधन में उन्नति के लिए गाम्भीर्य की नितान्त आवश्यकता है । यह जरूरी नहीं कि हर बात का उत्तर दिया ही जावे । साधक को बहुत कुछ सुनकर पचा जाना पड़ता है । उसका पेट गणेशजी की तरह बड़ा होना चाहिए। जगत् स्वयं भी अनावश्यक बातों तथा कामों में उलझा है तथा साधक को भी अपने साथ घसीट ले जाना चाहता है । साधक की अपनी चित्त स्थिति पर आधारित है कि वह जगत्-प्रवाह में बह जाए या साधक बना रहकर, साधन में तत्पर रहे । वैसे जगत् में रहना है तो किसी सीमा तक जगत् के साथ भी चलना ही पड़ता है, पर चलना ऊपरी होता है, मन पर साधक को प्रभाव ग्रहण नहीं करना चाहिए । प्रायः साधक इस संकट का समाधान एकान्तवास में खोजते हैं । किसी सीमा तक यह भी ठीक है, किन्तु सभी के लिए यह संभव नहीं ।

(२३) किसी भी समय अपने मन को बिना काम मत रहने दो, साधन, जप, अध्ययन, कीर्तन अथवा कोई शारीरिक श्रम करते ही रहो, अन्यथा मन उपद्रव खड़ा कर देगा । कहा भी है कि खाली मन शैतान का कारखाना होता है । शारीरिक श्रम करते समय भी संभव हो तो साथ-साथ जप करते रहो । अन्यथा हाथ भी चलते रहेंगे तथा मन भी उड़ता रहेगा ।

(२४) भय, क्रोध, काम, लज्जा, आश्चर्य आदि भाव भी क्रियाओं में प्रकट होते हैं, क्योंकि इन सब के संस्कार चित्त में एकत्रित हैं, जिनको उदय करके शक्ति, उसी भाव के अनुरूप चित्त को तरंगित कर देती है । साधक को सावधानीपूर्वक इन विपरीत तरंगों को सहन करना होता है । स्मरण रहे कि इन तरंगों की कर्त्ता भले ही क्रिया-शक्ति हो, किन्तु यह तरंगें संस्कारों की ही हैं । उनके वेग को सहन करते हुए, वेग को समाप्त करना ही साधक का कर्त्तव्य है । साधन-समय की यह आन्तरिक सहनशीलता बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे संस्कार वेगवान् होकर क्षीण हो जाते हैं । यदि साधक इस वेग में बह जाता है तो संस्कार और भी अधिक पुष्ट हो जाते हैं ।

(२५) साधन में बैठते समय साधक को कोई सांसारिक कामना मन में लेकर नहीं बैठना चाहिए । शक्ति ज्ञानवती होने से आपकी सभी आवश्यकताओं

तथा कामनाओं से भलीभाँति अवगत है । जिसमें आपका हित होगा शक्ति वही प्रदान करेगी । साधक अल्पबुद्धि होने से, अपने भले-बुरे का निर्णय कर पाने में असमर्थ है । हो सकता है कि आपकी कोई कामना बड़ी प्रबल हो, किन्तु उसकी पूर्ति में साधक का अहित हो । फिर कामनापूर्ति में प्रारब्ध का भी बड़ा हाथ है । जीव तो ऊँची-ऊँची कामनाएँ करता है, किन्तु प्रारब्ध में होता है वही मिलता है । साधन-पथ कामनाओं का नहीं, त्याग का मार्ग है । जो मिल जाए उसी में सन्तुष्ट रहना, जैसी क्रिया हो, उसी को गुरु कृपा समझना, सात्त्विक क्रियाओं में आसक्त नहीं हो जाना, तामसिक अथवा राजसिक क्रियाओं से घृणा नहीं करना। सभी क्रियाएँ मंगलकारी हैं । क्रिया होती है, निकल जाती है । किसी विशेष प्रकार की क्रिया की कामना करना कर्त्तव्य नहीं । इसीलिए साधक को समर्पण भाव धारण करने का उपदेश दिया जाता है । मानसिक कामना करने से शक्ति की क्रिया नहीं, कामना की क्रिया होती है ।

(२६) ढीले-ढाले मन से साधन में प्रवृत्त होने का कोई लाभ नहीं, क्योंकि तब साधन के, कभी भी खण्डित हो जाने की संभावना होती है । एक कुशल वीर योद्धा की भाँति उत्साह किन्तु धैर्यपूर्वक आध्यात्मिक युद्ध में उतरने में ही श्रेय की कामना की जा सकती है । यह आन्तरिक युद्ध कोई साधारण युद्ध नहीं है, अपितु कठिनतम अभियान है, जिसे ईश्वर पर अटूट विश्वास, समर्पण, निरन्तर साधन, धैर्य तथा सेवा के बल पर ही जीता जा सकता है ।

(२७) अपने आन्तरिक शत्रुओं की शक्ति को कम मत आँको । आसुरी विद्याओं में निपुण ये शत्रु, जन्म-जन्मान्तर से आपको सदैव ही धोखा देने में सफल होते आए हैं । उनके पास प्रलोभन, भय, आकर्षण, भ्रान्ति आदि अनेक मायावी शस्त्र हैं । समय आने पर वे विवेक का भी अपने ढंग से शस्त्र के रूप में प्रयोग करते हैं। वे कहते कुछ तथा करते कुछ हैं । वे कर्त्तव्य का स्वांग बना लेने में भी सिद्धहस्त हैं । ऐसे मायावियों से आपका सामना है जो अदृश्य रहकर बाण चलाते हैं । इसलिए साधक को बड़े सावधान रहने की आवश्यकता है । गुरु कृपा रूपी महाशस्त्र तो आपके पास है ही, किन्तु उसकी क्रियाओं में भ्रान्त हो जाने का भय है । यदि शक्तिशाली शस्त्र हाथ में हो तो भी समय आने पर उसका उचित प्रयोग होना भी आवश्यक है । समर्पण, सहनशीलता, उदारता, अक्रोध, क्षमाशीलता आदि शस्त्रों से सुसज्जित होकर उनका सामना किया जा सकता है । गीता के अनुसार असंग शस्त्र अर्थात् जगत् में रहकर जगत् से न्यारा रहना ही साधक का महान बल है । अन्तर में घटित होने वाली क्रियाओं को भी अपने से भिन्न देखते हुए, उनसे असंग रहना, अर्थात् उनसे प्रभावित नहीं हो जाना । क्रिया शक्ति, आन्तरिक शत्रुओं को अपने शस्त्र चलाने का अवसर प्रदान कर, उन्हें नष्ट कर देगी ।

(२८) न ही शक्ति की क्रियाओं को ही कम करके आँको । शक्ति संस्कारों के आधार पर क्रियाशील होती है किन्तु उनसे सदैव ही अप्रभावित रहती है । क्रिया के रूप में साधक के पास ऐसा शस्त्र होता है जो न काटा जा सकता है, न उसकी धार ही कभी कुन्द होती है तथा न ही उसे कभी जंग ही लगता है । क्रियारूपी शस्त्र कार्य तो सम्पन्न करने वाला है ही । प्रश्न केवल इतना है कि साधक उसका कहाँ तक प्रयोग करता, कितना प्रयोग करता है, कहाँ तक उसका आश्रय लेता है तथा साधनेतर समय में उसका क्या प्रयोग करता है । यदि साधक-क्रियारूपी शस्त्र का समुचित प्रयोग करता है तो उसकी उन्नति की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है । जिस प्रकार पतझड़ में पेड़ों के पत्ते गिरते चले जाते हैं उसी प्रकार संस्कार भी एक के पश्चात् एक क्षीण होते चले जाते हैं ।

(२९) कठिनाइयों, विघ्नों तथा समस्याओं से मत घबराओ । असफलताएँ आपको नई स्फूर्ति तथा शक्ति प्रदान करने के लिए प्रकट होती हैं । साधन करते-करते साधक में अभिमान जाग्रत हो जाने की संभावना है, यह विघ्न साधक को झकझोड़ कर जाग्रत करने के लिए उपस्थित होते हैं । विघ्न आना स्वाभाविक भी है तथा आवश्यक भी, क्योंकि साधन में निखार, विघ्नों, कठिनाइयों तथा असफलताओं से ही आता है । जो इनसे घबरा कर साधन-विमुख हो जाता है, वहीं कहीं का नहीं रहता । जो इनका सामना करता है तथा गिरने पर फिर उठ खड़ा हो जाता है, उसका अन्तर एक दिन साधन की सुगंध से महक उठता है ।

फिर एक बात और भी है, विघ्न या कठिनाइयों को समक्ष आना, है तो आन्तरिक शुद्धि का ही क्रम । साधक के संस्कार ही विघ्नों के रूप में प्रकट होते हैं । साधक को प्रसन्न होना चाहिए कि विपरीत-संस्कारों का विघ्नों के रूप में विलीनीकरण हो रहा है । गंभीर साधक दुःखों, कष्टों, अपयश, कठिनाइयों को आमंत्रित करता है ताकि शीघ्रातिशीघ्र चित्त निर्मल हो जावे । जिनके समक्ष एक ही लक्ष्य होता है कि किसी प्रकार मन की निर्मलता सम्पादित हो कर, आत्म तत्त्व का अनुभव हो, उनके सामने बाकी सब बातें गौण हो जाती हैं । दुःख आते हैं, निकल जाते हैं, किन्तु साधक की अन्तर्यात्रा अनवरत चलती ही रहती है । कठिन चढ़ाई चढ़ते हुए तूफानों का सामना करते हुए, सर्दी-गर्मी की परवाह किए बिना ही वह आगे ही आगे बढ़ता जाता है ।

(३०) जब शक्ति ऊपर चढ़ती है तो कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि प्राण निकले कि निकले । साधक के मन में शरीर के प्रति अभी आसक्ति तो होती ही है। वह मरने से डरता तथा जीवित रहना चाहता है, जबकि मृत्यु उसे

समीप दिखाई देने लगती है । ऐसे में वह घबरा कर आँखें खोल देता है तथा साधन से उठ जाता है । साधकों को यह बात निश्चित समझ लेना चाहिए कि शक्ति की क्रियाएँ मंगल के लिए हैं, अनिष्ट के लिए नहीं । अभी तक क्रियाओं में किसी व्यक्ति की मौत होते न देखा है न सुना है । हाँ, ऐसी अनुभूति कई साधकों को होती है कि जैसे प्राण निकले जा रहे हों ।

(३१) साधन-पथ अपने अहम् को समाप्त करने का मार्ग है, जीते जी मर जाने का मार्ग है । इसी के लिए पहले अहम् के रक्षकों अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि को समाप्त किया जाता है । जिसमें ये विकार जितने अधिक होते हैं उतना ही अधिक प्रबल उसका अहम् होता है । यह मत सोचो कि यदि हमारा अहम् ही समाप्त हो गया तो हमारा जीवन ही व्यर्थ हो जाएगा । जिसको सामान्य व्यक्ति जीवन समझे बैठा है वह कोई जीवन नहीं । इस जीवन के पीछे तो मृत्यु हर समय लगी रहती है तथा एक दिन इस जगत् से ले ही जाती है । वास्तविक जीवन तो तब आरंभ होगा जिसमें आपको मृत्यु का भय नहीं होगा। यह जीवन तभी प्राप्त होगा जब अहम् समाप्त हो जाएगा ।

१९६० के वर्ष में श्री गुरु महाराज द्वारा प्रदत्त जो वचनामृत, जितना जो कुछ याद आया, लिख दिये हैं । महाराजी तो ज्ञान के सागर थे । उनके श्रीमुख से, बात-बात में, ज्ञान गंगा प्रवाहित होती ही रहती थी, किन्तु मेरा लोटा बहुत छोटा था, इसलिए मैं कुछ थोड़ा सा ही ग्रहण कर पाया । उसमें से भी कालक्रम से बहुत कुछ विस्मृत हो गया है । फिर यह भी याद रखना बहुत कठिन है कि कौन सी बात आपने कब कही थी । फिर भी अपनी ओर से प्रयत्न यही किया गया है कि सन् ६० की बातों को ही संकलित किया जाय । जैसा कि मैंने भूमिका में लिखा है कि महाराजश्री द्वारा प्रयुक्त शब्दों को चालीस वर्ष पश्चात् याद रख पाना भी कठिन है, किन्तु पुस्तक में वर्णित भाव महाराजश्री के हैं जिन्हें यथा सम्भव शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है । यदि इसमें कुछ अशुद्धि दिखाई दे, तो इसमें दोष मेरी ही अल्प बुद्धि का है जिसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ ।

हृदय मंथन

(भाग - १)

संतवाणी तीर्थ स्वरूपा है,संतवाणी पापों की नाशक है, संतवाणी अनाथों का सहारा है । यह अनुभूति स्वामी विष्णू तीर्थ जी महाराज (ब्रह्मलीन) के श्रीचरणों का सानिध्य प्राप्त होने पर होती थी । श्री गुरु महाराज शक्तिपात् के महान आचार्य तो थे की, साधक का जीवन प्रवाह परिवर्तित कर देने में पूर्ण समर्थ, किन्तु उनके उपदेशामृत भी बेजोड थे । उनकी वाणी में ओज था, तर्क था, प्रेम तथा सौहार्द था, दूसरों को अपना बना लेने की कला थी, अध्यात्म की बारीकियाँ थीं तथा जीवन का निचोड था । आपका हृदय बोलता था । वह हृदय, जिसमें अध्यात्मक का प्रकाश था । श्री गुरु महाराज ऐसे संत थे, जो कोलम-हृदय, कुशाग्र-बुद्धि, संयत-मन तथा निर्मल-अहम् के स्वामी थे। वह वास्तव में ही मन के स्वामी थे । उनका जीवन अत्यन्त सादा, बिना किसी छल-कपटके, अध्यात्म से परिपूर्ण तथा प्रेममय था ।

हृदय मंथन,उन्ही के उपदेशों पर आधारित ग्रन्थ है। श्री गुरु महाराज का एक-एक वाय हृदय में गहरा उतर जाता है तथा सुनने वाले को हृदय मंथन पर विवश कर देता है। छोटी-छोटी नाओंको लेकर, वह साधन तथा मानव जीवन की सूक्ष्मतम् बातों पर, तर्क संगत विचार व्यक्त कर जाते थे । उनके जीवन में प्राचीन ऋषियों का व्यक्तित्व झलकता था । दृष्टि के माध्यम से प्रेम प्रवाहित होता था तथा वाणी के माध्यम से ज्ञान का झरना ।

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)

९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)

जिला ठाणे (महाराष्ट्र)